आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह के अभिनन्दन में

आवर्त्त

कवयिता

मुनि श्री बुद्धमल्लजी

सम्पादक

श्री सोहनलाल बाफणा

१९६१

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

प्राक्कथन

'आवर्त्त' मेरे मन की असीम संवेदनाओं की एक ससीम अभिव्यक्ति है। मन जितनी त्वरता और गहराई से संवेदन करता है, वाणी न उस त्वरता का साथ निभा पाती है और न उस गहराई का। इसीलिए मन के किसी भी संवेदन की पूर्ण अभिव्यक्ति कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं होता। इसे एक प्रकार की विवशता ही समझना चाहिए कि हर एक को अपनी पल्लव-ग्राहिणी वाणी के सहारे ही अपने संवेदनों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। हर एक संवेदन की नभ-तुल्य निःसीम अमूर्त्तता को जब वर्णात्मा प्रदान कर मूर्त्तता में ढाला जाता है, तब वह सीमाओं से घिरा एक छोटा-सा कुटीर मात्र बनकर रह जाता है। नभ की अनन्तता के सामने कुटीर का अस्तित्व कितना नगण्य होता है ? फिर भी कृतित्व की ममता ने उसे जो आत्मीयता प्रदान करदी है, वही उसके जीवन का अनन्य सम्बल हो गई है। 'आवर्त्त' के साथ इस कृतित्व की ममता ने ही मुझे बांध दिया।

मैं मानता हूँ कि 'आवर्त्त' अकेले मेरे ही संवेदनों का प्रतिनिधित्व नहीं करता, किसी अन्य के भी ठीक ऐसे ही संवेदन हो सकते हैं। पर इसमें शब्द-विन्यास मेरा है, इसलिए यह अभिव्यक्ति की दृष्टि से केवल मेरा है तथा

संवेदन की दृष्टि से मेरा तो है ही, अन्य का भी हो सकता है। मेरे इस कथन का यह आशय कदापि नहीं है कि किसी दूसरे व्यक्ति के संवेदन को मेरे संवेदन जैसा ही होना चाहिए। वे मेरे संवेदनों से विपरीत भी हो सकते हैं। सत्य अनन्त है, अतः वह मेरे संवेदनों में प्रस्फुटित होता है, उतना ही नहीं होता। उसके दूसरे अंश; जो कि मेरे संवेदनों की परिधियों में नहीं आ सके हैं; अन्य किसी के संवेदनों में प्रस्फुटित होते हैं, अभिव्यक्ति भी पाते हैं। पूर्ण सत्य उन सभी अवयवों की एक समान अपेक्षा रखता है। एक सत्य दूसरे सत्य का विरोधी कदापि नहीं हो सकता, वे परस्पर पूरक ही होते हैं। विरोध दिखाई दे सकता है, पर वह सत्य में न होकर द्रष्टा के आग्रह में होता है। अनाग्रह की स्थिति में विरोध नहीं; समन्वय ही उद्भूत होता है। मैंने पाया है कि सत्य अभ्रक के समान अनेक पर्त्तों वाला होता है। किसी एक पर्त्त के आधार पर उसे पहचाना जा सकता है तथा काम में भी लिया जा सकता है, परन्तु साथ ही शेष पर्त्तों के अस्तित्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है। उनकी अवहेलना करने से काम नहीं चल सकता; क्योंकि बन्द पर्त्तों की भूमिका पर ही खुले पर्त्त का सत्य अवस्थित रहता है। वे नहीं रहते हैं तो वह भी नही रह सकता। सत्य के सभी पर्त्त खुलें, यह वांछनीय तो हो सकता है, किन्तु वास्तविकता की भूमि पर इसे उतार पाने की सम्भावना नहीं के समान ही है। इसलिए किसी भी वास्तविकता तक पहुँचने के लिए दृष्ट सत्य के प्रति सम्मान तथा अदृष्ट सत्य के प्रति जिज्ञासा की भावना लिये मैं अपने संवेदनों की इस अभिव्यक्ति को सुधि-जनों के सम्मुख रखने का साहस कर रहा हूँ।

मेरी कविता मेरे से और मैं अपने आस-पास के वातावरण से एकदम भिन्न नहीं हूँ, इसलिए मुझे अपनी कविता का आधार अपने आस-पास के वातावरण में ही मिल जाया करता है। मैंने वातावरण से जो कुछ लिया है, वह ज्यों का त्यों ही नहीं है। मैंने उसे सुभुक्त भोजन की तरह अपने में पचाने का प्रयास किया है। उपयोगी अंश का स्वीकार तथा अनुपयोगी अंश का परिहार करने वाली इस पाचन-प्रक्रिया के फलस्वरूप मेरी जो धारणाएं अथवा भावनाएं बनी हैं, वे बिलकुल मेरी ही हैं; फिर भी उनका उत्स तो समष्टि में ही है; क्योंकि मैंने उन्हें समष्टि से लेकर ही इस रूप में परिणत किया है। मेरे विचार से व्यक्ति कोरा व्यक्ति ही नहीं होता, उसमें समष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाले अवयव भी सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। अर्थात् व्यक्ति समस्त समाज की आकांक्षाओं, मान्यताओं तथा कल्पनाओं का बीज रूप होता है। व्यक्ति जब अपने मन पर पड़ने वाले प्रभावों की अनुकूल या प्रतिकूल प्रति-

क्रिया को कलात्मक रूप से अभिव्यक्ति देता है, तब वह अनायास ही समस्त समाज की प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करता होता है।

कविता में मेरी सहज अभिरुचि रही है। मैंने अपने जीवन के सुखमय क्षणों के गौरवपूर्ण वातावरण में तथा दुःखमय क्षणों के निराशापूर्ण वातावरण में, समान रूप से इसे अपने साथ पाया है। सुखानुभूति-जन्य अतिविश्वास और दुःखानुभूति-जन्य अविश्वास के सांघातिक आघातों से अपने आपको बचा पाने में भी मुझे सबसे अधिक सहयोग इसीमें प्राप्त हुआ है। मुझे न केवल अपना ही सुख-दुःख इस ओर प्रेरित करता रहा है, अपितु दूसरों का सुख-दुःख भी मेरी अपनी अनुभूति के क्षेत्र में आता रहा है। मैंने ज्यों-ज्यों अपनी इन अनुभूतियों का विश्लेषण करना चाहा है, त्यों-त्यों इस निर्णय के अधिकाधिक निकट पहुँचा हूँ कि सुख-दुःख तथा सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि की सभी परस्पर विरोधी अनुभूतियां मूलतः एक ही होती हैं। वे उतनी बाह्य वस्तु-सापेक्ष नहीं होती हैं, जितनी कि बहुधा मानली जाती हैं। पूर्व और पश्चिम दिशा का भेद अपने आपको केन्द्र मानकर ही तो बना लिया जाता है; अन्यथा हर पूर्व मे पश्चिम दिशा का तथा हर पश्चिम में पूर्व दिशा का अस्तित्व स्वभावतः विद्यमान रहता ही है। मेरे विचार से हर दृश्य में कुछ न कुछ अदृश्य भी छिपा रहता है। उसे खोजने तथा परखने की दृष्टि बने तो हर साधारण में असाधारणता के साथ तथा हर असाधारण में साधारण के दर्शन सम्मिलित रूप से होने लगें। फिर किसी भी विषय का एकांगी दृष्टिकोण मिटकर सर्वांगीण दृष्टिकोण बन जाए; जो कि वास्तविकता तक पहुँचने के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उस स्थिति में हमारे लिए पुष्प भारावनत लता की कोमलता ही मोहक नहीं रह जाती, अपितु सर्वस्व-दान की गहन मूकता लिए अवस्थित स्थाणु की निर्लिप्तता भी उतनी ही मोहक बन सकती है।

मैं कविता करता हूँ, परन्तु ऐसा क्यों करता हूँ, इसका कोई सीधा उत्तर मेरे पास नहीं है। पूर्वाचार्यों द्वारा विश्लिष्ट उद्देश्यों के आधार पर सोचता हूँ तो पाता हूं कि मैं 'स्वान्तःसुखाय' लिखता हूं, परन्तु मन में यह प्रश्न भी उठा करता है कि सुख किसे कहा जाए ? कभी-कभी सुख का मार्ग घुटन और वेदना में से होकर भी तो गुजरता है। भावों को शब्दों के धरातल पर उतारते समय कई बार कठिनाई का अनुभव होता है। जब तक भावात्मकता का भाषा के संसार में अवतरण नहीं हो जाता, तब तक एक अव्यक्त घुटन या पीड़ा का-सा अनुभव होता रहता है। फोड़े में होने वाली कटु पीड़ा जैसी तो यह निश्चय ही नहीं होती, फिर भी इसे पीड़ा से बिलकुल भिन्न कहने का भी साहस नहीं

होता। इसकी भिन्न जातीयता को देखते हुए मैं इसे 'मधुर-पीड़ा' कहना चाहूँगा। इसकी तुलना शायद प्रसव-पीड़ा से ही हो सकती है। 'शायद' इसलिए कि एक का तो मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है, दूसरी का नहीं। इस पीड़ा का माधुर्य जिस सुख की सृष्टि करता है, वह अन्तःकरण को प्रीणित करने वाला होता है। उस सुख से अन्य जन लाभान्वित हो भी सकते हैं और नहीं भी, पर 'स्वान्तःसुख' तो निस्संदेह होता ही है।

प्रस्तुत पुस्तक 'आवर्त्त' से पूर्व मेरा एक कविता-संग्रह 'मंथन' नाम से प्रकाशित हो चुका है। यह दूसरा संग्रह है। इसमें मंथन के बाद की ६१ कविताएं संगृहीत हैं। इन रचनाओं का समय वि० सं० २०१६ भाद्रव शुक्ला ८ से २०१७ पोष कृष्णा ३ तक का है। इसमें भी अधिकांश कविताएं शेष के पांच महीनों की हैं। पूर्व के दश महीनों की तो केवल ६ कविताएं ही हैं। 'तेरापंथ द्विशताब्दी' की स्मृति में मैंने इसे लिखा है और आज महामहिम आचार्य श्री तुलसी के 'धवल-समारोह' के अवसर पर सहृदय-वर्ग के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ। इस संग्रह का मेरे लिए जो मूल्य है, वही अन्य सभी के लिए भी होना चाहिए, ऐसा मेरा आग्रह नहीं है। ऐसा आग्रह करने का मुझे कोई अधिकार भी नहीं है। फिर भी मूल्यांकन विषयक जिज्ञासा का होना तो स्वाभाविक ही है। आशा करता हूँ कि सुज्ञजन अपने विभिन्न विचार-कपोपलों पर कसकर इसका यथोचित मूल्यांकन करेंगे।

—मुनि बुद्धमल्ल

सं० २०१८ शान्ति-निकेतन
गंगाशहर

अनुक्रम

: १ :

आवर्त्तों की करुण कहानी है।
घुटन और आवेग लिए मन में,
यहां उफनती विवश जवानी है।

सीमाएं निस्सीम न हो पाईं,
यही यहां की एक समस्या है,
कुटिल हृदय के पास गोप्य इतना—
कि हर हलचल असूर्यपश्या है,
गति का रुकना बहुत असम्भव है,
किन्तु मोड़ने में आसानी है।
आवर्त्तों की करुण कहानी है।

सरलता उत्तम जीवन-पथ रहे,
किन्तु कुटिलता पर वह जीती है,
जिसने कुछ भी नहीं घुमाव लिया,
उससे तुम पूछो; क्या बीती है?
पथ-रोधक से टकराओ, लेकिन,
यहां तुम्हारी दिशा अजानी है।
आवर्त्तों की करुण कहानी है।

मत खोलो पीड़ा का अवगुण्ठन,
विकल हुए जगलोचन झांकेंगे,
अपने मन में छिपी कलुषता को,
उसके जीवन-क्षण पर आंकेंगे,
हर रहस्य के सिर पर नाच रहे—
आलोड़न की व्यथा पुरानी है।
आवर्त्तों की करुण कहानी है।

थामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला ११

: २ :

लहर सागर के हृदय की विवशता है।

थिरकते ये प्राण; पर गम्भीरता के,
गरल में अपमृत्यु ने सहसा डुबोये,
हो उठा प्रतिवाद उतना ही भयंकर,
व्यथित सागर के दृगों को जो भिगोये,
इसलिए तल की विकलसी मूकता पर,
मुखर यह नर्तन; विजय बन विहंसता है।
लहर सागर के हृदय की विवशता है।

छलक गागर के हृदय की विवशता है।

तरलता जब-जब कठिनता से घिरी है,
तब विषादों की कहानी उभर आई,
हर सुजनता की उभड़ती वेदना के,
आंसुओं से चूनरी भू की नहाई
पूर्णता की जिस कमी ने घुटन दी है,
यह उसीके स्फोट की ही विरसता है।
छलक गागर के हृदय की विवशता है।

रुदन मानव के हृदय की विवशता है।

जबकि पीड़ा ने प्रणय की याचना की,
स्वप्न-शिशुओं ने सहारे को पुकारा,
किन्तु तव आसक्त क्रीड़ा से हुआ मन,
दर्प को ऊंचा उठाकर के दुलारा,
आज जब निष्कर्ष बुझने को हुए हैं,
जलद पश्चात्ताप का यह बरसता है।
रुदन मानव के हृदय की विवशता है।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव कृष्णा ६

: ३ :

मेरे ही प्रतिविम्व मुझे ये क्यों भटकाते हैं?
मैं अद्वैत; किन्तु ये मुझमें द्वैत जगाते हैं।

जव-जव देखा; तभी मुकुर ने मुझे चिढ़ाया है,
हर प्रकाश ने घटा-वढ़ा कर मुझे वताया है,
छलनाओं का घेरा एक लिए ही चलता हूं,
पता नहीं मैं उन्हें; या कि वे मुझे निभाते हैं।
मेरे ही प्रतिविम्व मुझे ये क्यों भटकाते हैं?

यश अपयश के कितने परत चढ़े मुझ पर; न पता,
मिट्टी ओढ़ रखी उसका क्या मूल्य वता सकता?
फिर भी यह जग; मेरा तोल-मोल करता रहता,
अलग-अलग हैं निकष; फलित फिर कव मिल पाते हैं?
मेरे ही प्रतिविम्व मुझे ये क्यों भटकाते हैं?

हर परछाई मेरे आवरणों की रेखा है,
मेरी गहराई को उसमें किसने देखा है?
आंख न कोई भी मेरे तक पहुंच अभी पाई,
इसीलिए सव दूर खड़े अनुमान लगाते हैं।
मेरे ही प्रतिविम्व मुझे ये क्यों भटकाते हैं?

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव शुक्ला १५

: ४ :

जीवन परछाईं सा दिखलाई देता है,
पर मूल तत्त्व तो कहीं छिपा रह जाता है।

आंखों में प्रतिबिम्बित है जो रूप यहां पर,
वह केवल व्यवहार हमारे विश्वासों का,
किन्तु छिपा जो उसमें ही कुछ है अकल्प्य-सा,
उसे न सुलझा सका जाल यह निःश्वासों का,
स्मृत-विस्मृत से परे, अनवगाहित भाषा से,
मूक मनन के कानों में कुछ कह जाता है।
जीवन परछाई सा दिखलाई देता है,
पर मूल तत्त्व तो कहीं छिपा रह जाता है।

सत्य सरल है; किन्तु तर्क का मार्ग कुटिलतम,
जिसे खोजने चले, उसे ही खो आते हैं,
और मृषा की मरु-मरीचिका सी सुषमा को,
सहज मानकर अपनाने को ललचाते हैं,
इतना है उत्तप्त धरातल सन्देहों का,
जहां कि हर विश्वास पिघल कर बह जाता है।
जीवन परछाई सा दिखलाई देता है,
पर मूल तत्त्व तो कहीं छिपा रह जाता है।

[प्रारम्भ

विपदाओं का भार वहन करते-करते ही,
उन्हें अभिन्न स्वयं से मान लिया जाता है,
आघातों को सहलाने का समय मिले; बस
इतने में सारा सुख जान लिया जाता है,
स्वप्न घिरे रहते आंखों के अन्तरिक्ष में,
जागृति का उल्लास विवश हो ढह जाता है।
जीवन परछाई सा दिखलाई देता है,
पर मूल तत्त्व तो कहीं छिपा रह जाता है।

नयाबाजार, दिल्ली
सं० २०१६ भाद्रव शुक्ला ८

: ५ :

धारा की आशा है अपनी ; तट को अपनी प्यास है,
दोनों चिर-साथी ; फिर भी अपना-अपना विश्वास है।

अनजाना परदेशी कोई
लक्ष्य बना है धार का,
मौन खड़ा तट, देख रहा है
अवसर अपने प्यार का,

तन से जितने निकट यहां,
मन से उतने ही दूर हैं,
अपनी-अपनी सीमाओं में
दोनों ही मजबूर हैं,

हर उच्छ्वास विवश अपने में पाल रहा निःश्वास है।
धारा की आशा है अपनी ; तट की अपनी प्यास है,
दोनों चिर-साथी ; फिर भी अपना-अपना विश्वास है।

[आवर्त

चलने का संकल्प किए
यह धार चली ही जा रही,
हर पग पर तट की मर्यादा
रोक लगाती आ रही,
मनुहारों का यह व्यवहार
न जाने कबसे चल रहा,
साक्षी बनकर काल; न जाने
यों ही कबसे छल रहा,
हर प्रणयी के जीवन का यह धुंधला सा इतिहास है।
धारा की आशा है अपनी ; तट की अपनी प्यास है,
दोनों चिर-साथी ; फिर भी अपना-अपना विश्वास है।

स्वयं धार के हर इंगित पर
तट घुल-घुल कर वह गया,
फिर भी हर आघात मूर्त्त बन
मन पर अंकित रह गया,
युगों-युगों का घाव हरा यह
अब तक सूख न पा रहा,
पता न रह-रह कर क्यों कोई
इन्हें यहां बहका रहा ?
एक विषाद हुआ दोनों का, अलग रहा उल्लास है।
धारा की आशा है अपनी ; तट की अपनी प्यास है,
दोनों चिर-साथी ; फिर भी अपना-अपना विश्वास है।

नयाबाजार, दिल्ली
सं० २०१६ भाद्रव शुक्ला १५

: ९ :

तन की हलचल से यह मन की हलचल बहुत बड़ी है।

युग-युग से तम घिरा धरा पर,
किन्तु ज्योति कब हारी ?
ढंकती रही राख हरदम ही,
पर न बुझी चिनगारी,
चिर-मूर्छा से सुखद चेतना की लघु एक घड़ी है।
तन की हलचल से यह मन की हलचल बहुत बड़ी है।

मंजिल बहुत दूर है ; पर
गति हार नहीं खाएगी,
मौत भले मर जाय ; जिन्दगी
कभी न मर पाएगी,
कुटिल प्रकृति की बांह, आज पौरुष ने फिर पकड़ी है।
तन की हलचल से यह मन की हलचल बहुत बड़ी है।

आयामों में कभी महत्ता
सीमित हो न सकेगी,
घिरें परिधियां ; किन्तु
केन्द्र की सत्ता नहीं रुकेगी,
है अदृश्य कुछ ; जिसमें सब दृश्यों की स्थिति जकड़ी है।
तन की हलचल से यह मन की हलचल बहुत बड़ी है।

नयाबाजार, दिल्ली
सं० २०१६ कार्तिक शुक्ला २

: ७ :

मैं अपने में एक नया निर्माण लिए चलता हूं,
सबके लिए समान समर्पित प्राण लिए जलता हूं।

हर जीवन; नव आशाओं का
महल बनाया करता,
हर विश्वास; बढ़े पग का
उत्साह बढ़ाया करता,
मेरा यह उच्छ्वास मुझे
बहुधा पूछा करता है,
क्यों मैं उस जैसा ही प्रिय
निःश्वास बताया करता ?
अब दुराव से दूर सदा ही
रहता है मेरा मन,
क्योंकि बन गया मैं खुद ही इस युग की वत्सलता हूं।
मैं अपने में एक नया निर्माण लिए चलता हूं।
सबके लिए समान समर्पित प्राण लिए जलता हूं।

[श्राबन

सुख का जो पीयूष यहां के
प्राणों पर छाया है,
होकर दुःख का गरल आज वह
फिर सम्मुख आया है,
मुझसे पूछ रहे हो तुम
सुख-दुख की परिभाषाएं,
किन्तु उभय को मैंने तो
समरूप सदा पाया है,
थाह न मिल पाये शायद
तुमको मेरी भाषा का,
तुम चंचलता कह सकते ; पर मैं तो निश्चलता हूं।
मैं अपने में एक नया निर्माण लिए चलता हूं।
सबके लिए समान समर्पित प्राण लिए जलता हूं।

धरती की नीली छत पर ये
जितने नखत जड़े हैं,
मन की गहराई में उतने
ही संकल्प पड़े हैं,
पूछ रही है मुझे ; लजीली
सीमाएं नत-मस्तक,
ये असीम के देव ; द्वार पर
आकर कौन खड़े हैं ?
मैं तत्पर स्वागत को ;
पर मन का बन्धन कहता है—
अनजाने मैं पाल रहा अपनी ही निर्बलता हूं।
मैं अपने में एक नया निर्माण लिए चलता हूं।
सबके लिए समान समर्पित प्राण लिए जलता हूं।

सुजानगढ़
सं० २०१६ चैत्र कृष्णा ६

: ८ :

हर क्षण मेरा, मैं क्षण का हूं।
युग के इस सागर के जल का,
हर कण मेरा, मैं कण का हूं।

वहुत समागत, वहुत अनागत,
किन्तु एक क्षण विद्यमान है,
भुक्त अभुक्त वहुत हैं; फिर भी
मुझे तृप्ति का एक ज्ञान है।
मेरी इच्छाओं, आशाओं का जो चाहो भाष्य करो तुम,
किन्तु सूत्र रचने वाला यह,
हर प्रण मेरा, मैं प्रण का हूं।
हर क्षण मेरा, मैं क्षण का हूं।

रिसते हैं कुछ घाव हृदय के,
और टीसते कुछ रूठे से,
पर मुझको अव लगते हैं ये—
सारे अनुभव ही जूठे से
मेरी पीड़ा से कातर तुम, मुझे भयातुर कर न सकोगे,
समझ लिया है मैंने तो अव,
हर व्रण मेरा, मैं व्रण का हूं।
हर क्षण मेरा, मैं क्षण का हूं।

जीवन का सम्मान भले ही
मैंने पाया हो अपने में,
सम्मानों का जीवन तो फिर
देख न पाया हूं सपने में,
जो कुछ मैंने यहां पा लिया; उसको तुम अधिकार कहोगे,
पर मैं तो कहता; जीवन का
हर रण मेरा, मैं रण का हूं।
हर क्षण मेरा, मैं क्षण का हूं।

गोगुन्दा
सं० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला ६

: ६ :

मानस का उल्लास मुखर कब हो पाएगा ?
जबकि उसे हर पग पर सुख-दुख उलझाएगा।

स्वप्नों का संसार मधुरता से आप्लावित,
किन्तु जागरण उसे न छू पाता है तिल भर,
नयनों का सम्मिलन यहां क्षण में कहता जो;
वाणी का व्यवहार न कह पाता जीवन भर,
मन की गति से है न अलंघ्य यहां कोई भी,
किन्तु विवशता तन अपनी कब धो पाएगा ?
मानस का उल्लास मुखर कब हो पाएगा ?
जबकि उसे हर पग पर सुख-दुख उलझाएगा।

चिन्ताओं के जलद बरस जाते हैं जितना,
आंसू की यह धार कहां जतला पायेगी ?
आवेगों की झंझा के आघात भयंकर,
सहनशीलता किन-किन को सहला पाएगी ?
'अन्तर' सदा 'बहिर' से आवृत होता ही है,
आंखों का प्रत्यक्ष वहां पर खो जाएगा।
मानस का उल्लास मुखर कब हो पाएगा ?
जबकि उसे हर पग पर सुख-दुख उलझाएगा।

[आवर्त्त

हर इंगित के नीचे मूक भाव इतने हैं,
ये संकेत उन्हें न अंक में भर पाएंगे,
हर स्पन्दन के प्रेरक सूत्रों का अवगाहन,
ये विवेक के हाथ कहां तक कर पाएंगे?
जीवन की हर रेखा गहरी और गहन है,
दर्शन का छविकार न अंकन कर पाएगा।
मानस का उल्लास मुखर कब हो पाएगा?
जबकि उसे हर पग पर सुख-दुख उलझाएगा।

नयाबाजार, दिल्ली
सं० २०१६ माघ कृष्णा १०

: १० :

तिमिर के प्राकार कितने ही बनाओ,
किन्तु क्या आलोक रोका जा सकेगा ?

जिन्दगी के प्रश्न गहरे हैं बहुत ही,
उत्तरों की खोज गहरी हो न पाई,
जो धंसा जितने सलिल में, बस उसीने
ज्ञान की सीमा वहीं तक ही बनाई,
और आगे क्या छिपा; किसको पता है ?
पर गवेषक को न टोका जा सकेगा।
तिमिर के प्राकार कितने ही बनाओ,
किन्तु क्या आलोक रोका जा सकेगा ?

जाल शब्दों का बिछाया जा रहा है,
अर्थ का पंछी उसीमें फंस रहा है,
बात जीवन-मृत्यु की उसके निकट है,
किन्तु लुब्धक इस दशा पर हंस रहा है,
सत्य को सौ-सौ तरह चाहे ढंको तुम,
पर न आखिर वितथ पोखा जा सकेगा।
तिमिर के प्राकार कितने ही बनाओ,
किन्तु क्या आलोक रोका जा सकेगा ?

वात मन की स्वयं मन ही समझता है,
तुम उसे चाहे छिपाओ; या बताओ,
रो रहे हो क्यों स्वयं की पीड़ लेकर ?
आंख के मोती न यों भू पर गिराओ,

आग कितनी ही प्रबल हो; पर न उसमें,
मनुज का विश्वास झोंका जा सकेगा।
तिमिर के प्राकार कितने ही बनाओ,
किन्तु क्या आलोक रोका जा सकेगा ?

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण कृष्णा ६

: ११ :

नदियों के वहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव बांध की ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

केवल गति-अवरोध कहीं भी भला नहीं होता,
निरुद्देश्य क्यों रुके चेतना का वहता सोता ?
रोको; यदि तुम उसे व्यवस्थित गति दे सकते हो,
पहले से भी अधिक काम उससे ले सकते हो,
संग्रह तुमको वहुत सुखद हो सकता है, लेकिन
ध्यान रखो; उससे न किसी का घर ही ढह जाए।
नदियों के वहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव वांध की ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

बूंद बूंद कर जलद यहां धरती को जो देता,
नव-जीवन उसमें अंकुर का रूप यहां लेता,
इसीलिए तुम शक्ति-स्रोत जल के गुण गाते हो,
किन्तु नियंत्रण में लेने को भी ललचाते हो,
करो समूहित शक्ति और उसका दोहन, लेकिन
ध्यान रखो; उसमें जीवित आदर्श न वह जाए।
नदियों के वहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव वांध की ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

देख रहे हो तुम; ये लहरें उठ-उठ आती हैं,
मुक्ति-हेतु बन्धन से फिर-फिर जो टकराती हैं,
भय-विजड़ित सी भींत मौत से कवलित हो जाती,
अमर लहर की नव्य चेतना भिगो-भिगो जाती,
जड़-चेतन संघर्ष चला ही करता है, लेकिन
ध्यान रखो; जग हार-जीत को एक न कह जाए।
नदियों के बहते पानी को रोक रहे, लेकिन
नींव बांध की ध्यान रखो; कमजोर न रह जाए।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण कृष्णा १५

: १२ :

हर मनुहार खोजती मुझको, पर मैं वहक न पाया,
मेरी भूलों ने ही मन को इतना सजग बनाया।

नभ में तिमिर घिरा; तो तारकगण ने ज्योति बिखेरी,
दीप जल उठे; जबकि धरा पर छाई रात अन्धेरी,
उठा ज्योति को ऊपर; अन्तिम क्षण तक स्नेह जला है,
किन्तु वहीं पर परछाईं बन; तम निर्भीक पला है,
इसीलिए तो कहां अभी तक साध्य पूर्ण हो पाया।
हर मनुहार खोजती मुझको, पर मैं वहक न पाया,
मेरी भूलों ने ही मन को इतना सजग बनाया।

बहते जल को हर ढलाव ने अपनी दिशा बताई,
हर सम्भव शोषण के मुख पर हरियाली मुस्काई,
जीवन ने पग-पग पर देखा अपना घोर पराभव,
कुटिल मृत्यु ही जुटा रही थी निर्भय होकर वैभव,
किस न्यायालय ने संतप्त हृदय को धैर्य बंधाया।
हर मनुहार खोजती मुझको, पर मैं वहक न पाया,
मेरी भूलों ने ही मन को इतना सजग बनाया।

[आवर्त्त

विश्वासों ने किया निमंत्रित मुझे यहां धरती पर,
किन्तु मिले स्वागत में मुझको खुले संशयों के घर,
मैं सशंक सा खोज रहा हूं, किधर मार्ग है मेरा?
जिधर गया हूं; उधर मिला है मुझे अकल्पित घेरा,
पूछा जिसको; उसने ही अपना विश्वास दिलाया।
हर मनुहार खोजती मुझको, पर मैं बहक न पाया,
मेरी भूलों ने ही मन को इतना सजग बनाया।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण शुक्ला ३

: १३ :

मेरा पथ; मेरे पैरों की बाट निहारा करता,
मेरा साहस; कांटों का व्याघात बुहारा करता।

जीवन की हर डगर बड़े बीहड़ में से जाती है,
क्षितिज पार से हर विकास की प्रतिध्वनि सी आती है,
इसी एक आकर्षण से ये पैर उधर बढ़ते हैं,
और असंभव के गिरि की चोटी पर भी चढ़ते हैं,
मेरा 'अथ' मेरी 'इति' का आघात सहारा करता।
मेरा पथ; मेरे पैरों की बाट निहारा करता,
मेरा साहस; कांटों का व्याघात बुहारा करता।

दूर कहीं उद्दीप्त लक्ष्य का आमन्त्रण आया है,
पैरों के घर इसीलिए ही नवोल्लास छाया है,
गति के संबल पर जीने का इन्हें भेद आता है,
इसीलिए तो लक्ष्य स्वयं ही सम्मुख झुक जाता है,
इनका दृढ़ संकल्प कहीं भी रंच न हारा करता।
मेरा पथ; मेरे पैरों की बाट निहारा करता,
मेरा साहस; कांटों का व्याघात बुहारा करता।

मेरे पदचापों से पथ की सुप्त चेतना जागी,
मेरे पद-चिह्नों ने उसको किया सहज अनुरागी,
क्षण अतीत के विजयी बन; स्मरणीय हुए जीवन के,
तब ही सुलझ रहे हैं धागे भावी की उलझन के,
नहीं सन्धि को मेरा पौरुष हाथ पसारा करता।
मेरा पथ; मेरे पैरों की बाट निहार करता,
मेरा साहस; कांटों का व्याघात बुहारा करता।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण शुक्ला ६

: १४ :

मेरे पैरों में मेरी ही गति का वैभव रह जाने दो।

मेरा पथ है, मेरी मंजिल,
मेरे ही ये पैर चल रहे,
मेरी बाधाओं से परिचित
मेरे अनुभव दीप जल रहे,
आभारी बनकर जीने का
मुझ पर भार न यह लादो तुम,
मेरी इच्छाओं को इतना
कसकर फिर से मत बांधो तुम,
मेरे मन को मेरे ही भावों की भाषा कह जाने दो।
मेरे पैरों में मेरी ही गति का वैभव रह जाने दो।

बहुत थका हूं, बहुत चुका हूं,
फिर भी मुझमें बहुत शेष है,
मेरे हर स्पन्दन में तुमने
देखा होगा नवोन्मेष है,
हर विकार को मैंने मेरे
संस्कारों से कस डाला है,
हर आशंका को मैंने
मेरे दरवाजे पर पाला है,
मेरा दर्द मुझे अपने ही हाथों से तुम सहलाने दो।
मेरे पैरों में मेरी ही गति का वैभव रह जाने दो।

यह मेरा उच्छ्‌वास भटक कर
फिर मुझमें ही आ जाता है,
यह मेरा निःश्वास अटक कर
फिर मेरे में छा जाता है,
अब तक निष्फल नहीं गया है
गुण मेरा ; अवगुण भी मेरा,
अपवादों ने ; आक्षेपों ने ;
यद्यपि था पग-पग पर घेरा,
मेरे तट को मेरी ही धारा में घुल-घुल वह जाने दो।
मेरे पैरों में मेरी ही गति का वैभव रह जाने दो।

गोगन्दा
सं० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला १३

: १५ :

मन के तार कसो; पर इतना ध्यान रखो; ये टूट न जाएं।

यदि ये शिथिल रहेंगे; तो स्वर
नीरस होकर ही आएगा,
तनिक कसोगे; तो स्वर में
माधुर्य लहर ज्यों लहरायेगा,
मृदु आघात तुम्हारे कर का
इन सबको झंकृत कर देगा,
निपट शून्य के अपरिमेय
विवरों में नवजीवन भर देगा,
लय छेड़ो अपनी; पर इतना ध्यान रखो; स्वर छूट न जाएं।
मन के तार कसो; पर इतना ध्यान रखो; ये टूट न जाएं।

गायक! तुम अपने जीवन में
यह क्या कुण्ठा पाल रहे हो?
अपने से बढ़कर; अपने—
साधन में सत्ता ढाल रहे हो,
परछाईं में प्राणों का
व्यामोह नहीं शोभा देता है,
मधु घट में मधु रहे; किन्तु क्या
वह उसका पद भी लेता है?
घट तो मृन्मय हैं; पर इतना ध्यान रखो; ये फूट न जाएं।
मन के तार कसो; पर इतना ध्यान रखो; ये टूट न जाएं।

गा सकते हो '? गाओ;
जीवन गीत मौत से जूझ पड़ेंगे,
नहीं कल्पना ने भी देखे
वैसे अनुभव सूझ पड़ेंगे,
अपने को विस्मृत होने देना ही—
मौत बुला लेना है,
स्मृति के विषय रहो
जीवन का यदि आस्वाद यहां लेना है,
अनुभव दान करो; पर इतना ध्यान रखो; ये छूट न जाएं।
मन के तार कसो; पर इतना ध्यान रखो; ये टूट न जाएं।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण कृष्णा ३

अपनी कमियों का लेखा करने बैठा तब
गौरवमय जीवन का मोल समझ पाया हूं।

परछाईं की गुरुता को अपनी समझे था,
किन्तु जान पाया हूं अब; वह तो घटती है,
इन्द्रधनुष के सतरंगी वैभव की शोभा
कितनी ही आकर्षक हो; आखिर मिटती है,
चंचल लहरों की थिरकन का हो दृश्य जहां,
मैं समझा था कि वहीं पर जीवन रहता है,
कुछ हो आवेश पूर्ण शब्दों का आडम्बर,
बस वहीं क्रान्ति का स्वर धारा बन बहता है,
पर मेरे मन के ये विश्वास न टिक पाए,
अब मैं अनुमानों की पोल समझ पाया हूं।
अपनी कमियों का लेखा करने बैठा तब
गौरवमय जीवन का मोल समझ पाया हूं।

नभ में छाए जलदों को मैंने समझा था,
सबसे बढ़कर ये ही तो अवढर दानी हैं,
सागर की गुरु गंभीर हलचलों से जाना,
दुनिया में इससे अधिक न कोई मानी है,

[आवर्त

सब कुछ यह आंखों का प्रत्यक्ष बना ही था,
संशय करने को स्थान न कोई शेष रहा,
पर मुझे पता क्या था कि आंख से भी आगे
संसार एक तथ्यों का भिन्न अशेष रहा,
जो देखा था उससे बिल्कुल उल्टा निकला,
तब से ही तो निर्णय का तोल समझ पाया हूं।
अपनी कमियों का लेखा करने बैठा तब
गौरवमय जीवन का मोल समझ पाया हूं।

टूटा नभ से तारा ; वह वहीं विलीन हुआ,
इतना सा तो हर कोई देख लिया करता है,
जो मरा, धरा से अपना नाता तोड़ गया,
हर मानस ऐसा विश्वास किया करता है,
टूटे तारे ने नई सृष्टि को मार्ग दिया,
पदरिक्त मौत ने सदा जन्म के लिए किया,
इसका विश्वास मुझे तो इतना गहरा है,
जग के क्रम का आधार इसीने थाम लिया,
जब पांव शोध के थके, बोल सब मूक हुए,
तब उदित हुए अनुभव का कोल समझ पाया हूं।
अपनी कमियों का लेखा करने बैठा तब
गौरवमय जीवन का मोल समझ पाया हूं।

राजनगर
सं २०१७ श्रावण कृष्णा ६

: १७ :

मेरे गीत; किसीके मन में प्रीत जगाएंगे,
जाने अनजाने पथ पर भी मीत बनाएंगे।

मैं गाता हूं; जब गाने को विवश हुआ करता,
मेरे मन का व्योम ; जगत की हलचल से भरता,
भावों के बादल की घुटन तरल होकर आती,
प्यासी धरती बूंद-बूंद पी प्रीणित हो जाती,
आजीवन ये इसी तरह से रीत निभाएंगे।
मेरे गीत ; किसीके मन में प्रीत जगाएंगे,
जाने अनजाने पथ पर भी मीत बनाएंगे।

सागर की गहराई सबके मन को भाती है,
और ऊंचाई शैल-शिखर की भी ललचाती है,
किसी एक को लें; तो स्वप्न अधूरा रह जाए,
मूक कल्पना घुल-घुल कर आंसू सी बह जाए,
वर्तमान के प्रहरी ये ; न अतीत कहाएंगे।
मेरे गीत ; किसीके मन में प्रीत जगाएंगे,
जाने अनजाने पथ पर भी मीत बनाएंगे।

अपनी-अपनी बात सभी के मन को भाती है,
हर कोई अपने जीवन का ही पखपाती है,
तन के घावों से भी मन के घाव भयंकर हैं,
प्रश्नों के ये समाधान भी प्रश्न निरन्तर हैं,
दूषित पथ यह ; पर ये उसे पुनीत बनाएंगे।
मेरे गीत; किसीके मन में प्रीत जगाएंगे,
जाने अनजाने पथ पर भी मीत बनाएंगे।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण कृष्णा १२

जो नभ के हैं फूल ; वही धरती के तारे।

हर सौन्दर्य ; अपेक्षित दूरी का अभ्यासी,
हर विश्वास ; स्वयं अपने में ही संन्यासी,
हर चिन्तन के पंख कटे से ही होते हैं,
हर विवेक के निर्णय अध-जागे सोते हैं,
जो होते अप्राप्य; उन्हें ही हृदय पुकारे।
जो नभ के हैं फूल ; वही धरती के तारे।

जीवन का एकान्त ; चाहता है कोलाहल,
आशा चमक उठे ; जब घिरे निराशा-बादल,
रूठे से सपने भी तो प्यारे लगते हैं,
जबकि यहां के सभी यत्न हारे लगते हैं,
पंख कल्पना के ही कृति ने सदा संवारे।
जो नभ के हैं फूल ; वही धरती के तारे।

गति का भार अगति ने ही तो वहन किया है,
खुद प्रकाश ने तम को निज सीमान्त दिया है,
जीवन का आग्रह ; हर मौत किया करती है,
स्वयं रिक्तता; किसी पूर्णता की धरती है,
हर कोई के भिन्न यहां पर क्षितिज-किनारे।
जो नभ के हैं फूल ; वही धरती के तारे।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव कृष्णा ३

: १६ :

अन्तरिक्ष के अतिथि आज धरती पर आए हैं,
नई सृष्टि के लिए नया सन्देसा लाए हैं।

क्षितिज छोर तक लगी कतारें नये विमानों की,
संख्या बहुत बड़ी है अब तक के अभियानों की,
विश्वजयी, पर-हित अपना सर्वस्व बहाते हैं,
अपने जीवन का भी ये बलिदान चढ़ाते हैं,
इनके आगमनों पर जग ने पलक बिछाए हैं।
अन्तरिक्ष के अतिथि आज धरती पर आए हैं।

सद्यः स्नाता धरती नव वसना हो जाएगी,
विविध प्रसूनों से अपना शृंगार सजाएगी,
यदि ये यहां न आते तो वह बन्ध्या रह जाती,
दग्ध हृदय की प्यास, सुधामय तृप्ति कहां पाती?
चिर पोषित ये स्वप्न; सुखद आकृति ले पाए हैं।
अन्तरिक्ष के अतिथि आज धरती पर आए हैं।

दो हृदयों के बन्धन की यह मंगल वेला है,
इसीलिए हलचल है इतनी, इतना मेला है,
एक नई अनुभूति उभरती सी शरमाती है,
पर उसकी मधुमयता प्राणों में घुल जाती है,
सिकुड़ गए क्षण, विश्वासों ने पर फैलाए हैं।
अन्तरिक्ष के अतिथि आज धरती पर आए हैं।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव कृष्णा १२

: २० :

तुम अनन्त नभ का विस्तार नापने से पहले,
अपने मन का विस्तार नापलो तो अच्छा हो।

आदिम युग से अब तक की ये सब जिज्ञासाएं,
जिन-जिन आयामों में विकसित होती आई हैं,
तुम समाधान उन सबका बाहर खोज रहे हो,
पर वे तो निर्बाध इसी अन्तस् में छाई हैं,
अन्य सभी जग का आधार नापने से पहले,
अपने तन का आधार नापलो तो अच्छा हो।
तुम अनन्त नभ का विस्तार नापने से पहले,
अपने मन का विस्तार नापलो तो अच्छा हो।

इस दृश्य जगत का सत्य सदा सत ही होता है,
बस इसीलिए हर खोज उसे झुठला देती है,
लेकिन अदृश्य की बात बहुत ही दूर यहां से,
मति को उसकी अल्पानुभूति इठला देती है,
तुम पूर्ण सत्य का आकार नापने से पहले,
इन स्वप्नों का आकार नापलो तो अच्छा हो।
तुम अनन्त नभ का विस्तार नापने से पहले,
अपने मन का विस्तार नापलो तो अच्छा हो।

जीवन के इन डगमग करते पैरों से तुमने,
चाहा है अनुमान लगाना उसके गतिबल का,
चिनगारी का बुझता-सा अस्तित्व निहारा तो,
भ्रम हो गया तुम्हें; उसकी निर्बलता के पल का,
तुम विभूतियों का संसार नापने से पहले,
अपनी विभुता का द्वार नापलो तो अच्छा हो।
तुम अनन्त नभ का विस्तार नापने से पहले,
अपने मन का विस्तार नापलो तो अच्छा हो।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव कृष्णा ३

:२१:

मन मेरा है; तन भी मेरा,
दोनों की अन्विति का साधक,
यह सुन्दर जीवन भी मेरा।

मन की गति है तेज वहुत ही,
तन उसको न कभी पा सकता,
पीछे यदि रह जाए; तो फिर
जीवन का विश्वास न टिकता,
चपल कल्पना पेंग भरे;
पर उसे मान्य वन्धन भी मेरा।
मन मेरा है; तन भी मेरा।

मन की प्यास वहुत गहरी है,
पर छोटा है यह तन का घट,
जीवन वहे सदा सरिता सा,
दोनों हो सम्मान्य रहें तट,
इसीलिए साकार हुआ है;
निराकार चिन्तन भी मेरा।
मन मेरा है; तन भी मेरा।

लहरों का स्मित मुखरित; इसमें
सागर बूंदों का आभारी,
मन; अनुभव का केन्द्र बने तो,
हेतु-भूत यह तन संसारी,
हास्य प्रभावक है जितना यह,
उतना ही क्रन्दन भी मेरा।
मन मेरा है; तन भी मेरा।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन कृष्णा ३

: २२ :

तल में रही शून्यता जब तक नहीं भरेगी,
जल की धार स्वयं तब तक आवर्त्त बनेगी।

धरती के मन में अभाव जो छिपे हुए हैं,
उन्हें न कोई आंख कभी देखा करती है,
जब असह्य हो जाता है प्रिय जीवन भी यह,
सभी ओर की घुटन विवशता से घिरती है,
तब कोई प्रतिकार उभर कर आयेगा ही,
उसकी सीमा अतिभावों का गर्त्त बनेगी।
तल में रही शून्यता जब तक नहीं भरेगी,
जल की धार स्वयं तब तक आवर्त्त बनेगी।

बलिदानी लहरें उस ओर बढ़ा करती हैं,
जहां जरूरत आहुति की सबसे बढ़कर है,
यदि अभाव का घाव भरे उनके जीवन से,
तो फिर उनके लिए मृत्यु भी यह सुखकर है,
मिटे विषमता भूतल की यदि इतने से ही,
तो यह आहुति सम-जीवन की शर्त्त बनेगी।
तल में रही शून्यता जब तक नहीं भरेगी,
जल की धार स्वयं तब तक आवर्त्त बनेगी।

हर प्रभात कुछ वलिदानों की प्यास लिए है,
इसीलिए जग कतराकर उससे चलता है,
समाधान पाने को युग का प्रश्न खड़ा यह,
आंख-मिचौनी का छल उसको कव छलता है ?

जो जिजीविषा आज मचल कर रोक रही है,
वही मृत्यु का हेतु विशाल विवर्त्त वनेगी।
तल में रही शून्यता जव तक नहीं भरेगी,
जल की धार स्वयं तव तक आवर्त्त वनेगी।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन शुक्ला १०

: २३ :

मैं तम से भी प्यार करूंगा।
प्राण-हीन से इन स्वप्नों में,
जीवन का व्यापार भरूंगा।

यह समाज क्या ? एक सिन्धु है,
जितना चाहो तुम मथ डालो,
अपने ही श्रम के संबल पर,
विष या फिर पीयूष निकालो,
कदम-कदम पर मिल सकते हैं,
सुधा-भक्त तुमको धरती पर,
गरल-पान को जो आतुर हो,
मैं जानूं ; यदि उसको पालो,
गरल सुधा का भेद हरे—
उस मीरां को अवतरित करूंगा।
मैं तम से भी प्यार करूंगा।

सुख-दुख दोनों उलट पलट कर,
अपना खेल दिखा जाते हैं,
सुख सबका प्रिय पात्र बन गया,
दुख से सारे घबराते हैं,
कौन कहेगा निर्भय होकर—
मैं दोनों का ही सेवक हूं ?
मुझको अपने इस जीवन में,
सुख जितने ही दुःख भाते हैं,
अनासक्त मैं; दोनों का ही,
जीवन में व्यवहार करूंगा।
मैं तम से भी प्यार करूंगा।

मेरी शुचिता; अनायास ही,
कलुष धरा का धो डालेगी,
मेरी ऋजुता; सहज भाव से
विजय कुटिलता पर पा लेगी,
मेरे विश्वासों की दृढ़ता;
मुझे लक्ष्य तक ले जाएगी,
मेरी समता; इस जीवन में
मधुमय श्रद्धा को ढालेगी,
तम-प्रकाश अद्वैत बनेंगे,
मैं तव उपसंहार करूंगा।
मैं तम से भी प्यार करूंगा।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक कृष्णा ४

: २४ :

मेरे जीवन की लघुता को अपनी गुरुता से मत तोलो।
संशय के कलुषित हाथों से यह श्रद्धा की गांठ न खोलो।

मैं मेरे ही संस्कारों को
लेकर इस धरती पर आया,
उपादान के परिणामों ने
जैसा चाहा; मुझे बनाया,
तुम मेरे में फलित देखना
चाहते हो अपने भावों को,
पर मुझको स्वीकार नहीं यह; तुम अपना मानस टटोलो।
मेरे जीवन की लघुता को अपनी गुरुता से मत तोलो।

मुझको मेरी मधुमयता का
आमंत्रण मिलता रहता है,
मुझे नहीं परवाह कि कोई
इसको विषमयता कहता है,
जो कुछ भी हो; मेरे मन में
उसका ही आनन्द भरा है,
तुम मेरे मधुमय विष में यों अपना विषमय मधु मत घोलो।
मेरे जीवन की लघुता को अपनी गुरुता से मत तोलो।

जीवन के पथ पर मेरा पग
प्रथम बार जब बढ़ने को था,
उसके दुस्साहस की गाथा
जग यह उद्यत पढ़ने को था,
मेरी एक प्रगति पर शत-शत
अभिशापों ने वार किया है,
पर अब मेरी सक्रियता में अपनी सब कुण्ठाएं घोलो।
मेरे जीवन की लघुता को अपनी गुरुता से मत तोलो।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक कृष्णा ६

: २५ :

नभ का यह विस्तार सकल ही इस मन का विस्तार लिए है।
चमक रहे जो तारे; वे सब नयनों का ही प्यार लिए हैं।

तुम तम को आमंत्रित करते,
पर मैं ज्योत्स्ना ले आता हूं,
तुम छाया के घर जाते हो,
मैं आतप को सहलाता हूं,
तुमने जिसको छोड़ दिया है,
मैंने उसको भी अपनाया,
निराधार हर कोई मेरे प्राणों का आधार लिए है।
नभ का यह विस्तार सकल ही इस मन का विस्तार लिए है।

हर ऊपर उठने वाले को
जगत गिराना ही चाहेगा,
गिरने वालों की लघुता से
कौन नहीं मन बहलाएगा?
पर मैंने तो जान रखा है—
गिरने वाले उठ सकते हैं,
इसीलिए 'निर्वाण' नहीं: मेरा अनुभव 'संसार' लिए है।
नभ का यह विस्तार सकल ही इस मन का विस्तार लिए है।

तुम अपनों में खोज रहे हो—
शायद कोई मिले पराया,
द्वन्द्व चाहिए तुम्हें; किन्तु
मैंने निज को निर्द्वन्द्व बनाया,
मैंने जो देखा है; उसको
आंखें देख नहीं पाएंगी,
मेरे परमार्थों का ही यह सारा जग व्यवहार लिए है।
नभ का यह विस्तार सकल ही इस मन का विस्तार लिए है।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक कृष्णा ७

: २६ :

मैंने अपना जीवन अब तक मौन बिताया है,
क्यों अब मन का दर्द उभर कर ऊपर आया है !

तम का गुरुतर भार सदा ही
सिर पर ढोया है,
अपने सपनों को आंसू के
जल में धोया है,
ऐसा बधिर मिला जग; जो
कह जाए सुने नहीं,
अपने घाव दिखाए;
देख न पाए और कहीं,
इसी लिए तो प्यार निभाना
एक पहेली है,
पर मैंने खुद को उसके
अनुरूप बनाया है ।
मैंने अपना जीवन अब तक मौन बिताया है ।

नयन स्रोत बन बहे;
किसीने तनिक नहीं देखा,
किन्तु जरा मुस्काये; तब
लेने आए लेखा,
अपने-अपने घाव सभीके,
अपनी पीड़ा है,
आवरणों में छिपी
सभी की नंगी व्रीड़ा है,
छेद पराए खोल रहे सब,
अपने ढंकते हैं,
इस असमंजसता को यह मन
समझ न पाया है
मैंने अपना जीवन अब तक मौन बिताया है।

चिन्तन; विजन मांगता,
पर मैं भीड़ लगाता हूं,
रोता रहे हृदय अन्दर,
ऊपर मुस्काता हूं,
सभी विवशताएं मेरे पर
बन्धन डाल रहीं,
मैं एकाकी; ये मुझमें
निज भाषा ढाल रहीं,
मैं किसका सम्मान करूं?
किसका अपमान करूं?
जलते अंगारे सा प्रश्न
नहीं बुझ पाया है।
मैंने अपना जीवन अब तक मौन बिताया है।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक कृष्णा ८

: २७ :

आज अमा की अंधियारी में
दीपक का उद्योत सिहरता।
पर अनजाना स्नेह किसी का
फिर-फिर जीवन आशा भरता।

नभ अनन्त है, ज्योति स्वल्प है,
पर साहस की बात बड़ी है,
जनता याचक बन प्रकाश की
इसीलिए तो द्वार खड़ी है,
जीवन की भंगुर सीमाएं
किन्तु सभीके साथ लगी हैं,
यही प्रकृति का नियम मुझे तो बार बार है रहा अखरता।
आज अमा की अंधियारी में
दीपक का उद्योत सिहरता।

तम न किसीके लिए सुखद है,
ज्योति सभीको रही प्रेय है,
दीप प्रज्वलित रहे—यही बस
जीवन का सर्वाश श्रेय है,
बुझने मरने में मुझको तो
अन्तर कोई नजर न आता,
इसीलिए अन्तिम सांसों तक इस जीवन का तेज निखरता।
आज अमा की अंधियारी में
दीपक का उद्योत सिहरता।

लील न सकता है तम कोई
एक जरा सी चिनगारी को,
सींच रहा है क्योंकि सदा से
यह जीवन उसकी क्यारी को,
तिमिर मृत्यु है; ज्योति जिन्दगी;
बस मैंने तो यह समझा है,
इसीलिए तो दीपोत्सव को मानव के घर रही अमरता।
आज अमा की अंधियारी में
दीपक का उद्योत सिहरता।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक कृष्णा १५ दीपावली

: २८ :

रजनी का यह मौन सदा ही मुझको खलता है।
चिर-कुमार मेरे प्रश्नों का जीवन जलता है।

जाग रहा है कौन—
तिमिर का विष पीने वाला ?
किसकी नींद बनी अपनी ही—
आंखों की ज्वाला ?
निःश्वासों का भार; पवन पर
क्यों लादे कोई ?
किसने मेरे मन की चादर
आंसू में धोई ?
क्यों न प्रतीक्षा का फल इन प्राणों को मिलता है ?
रजनी का यह मौन सदा ही मुझको खलता है।

आता है यह पवन
अधसुनी बातें ले लेकर,
मेरे स्वप्नों को पराग से
जाता है भर भर,
जीवन कहता, यह लम्बा पथ
तो अनदेखा है,
गति की सीता सोच रही;
यह लक्ष्मण-रेखा है,
कदम-कदम मेरा विश्वास सम्भल कर चलता है।
रजनी का यह मौन सदा ही मुझको खलता है।

है प्रसुप्त सन्देह;
जगाने क्यों कोई आये ?
इस उपेक्षिता सी वीणा के
स्वर क्यों लहराये ?

मेरा यह अनुराग
तुम्हें ही क्यों रंग जाता है !
क्यों मेरा सर्वस्व
याचना को ललचाता है ?

परिचय का संसार प्रणय में रहा बदलता है।
रजनी का यह मौन सदा ही मुझको खलता है।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक शुक्ला ४

[आवर्त

: २६ :

स्वप्न भी आकार लेते हैं।
हृदय की इस तूलिका से रंग भरदूं तो,
ये मुझे नव चेतना का द्वार देते हैं।

सत्य की हर खोज उलझन में भरी, लेकिन
जगत ने इनको सदा ही झूठ बतलाया,
काल-कवलित चिर-कुमारी वासनाओं की—
ये कहे जाते रहे हैं: विरल सी छाया,
किन्तु जब मझधार में है डूबती आशा,
नाव उसकी, ये पकड़ पतवार लेते हैं।
स्वप्न भी आकार लेते हैं।

प्रगति के पथ पर बढ़े पग तब मनुजता के;
जब किसीके स्वप्न ने आलोक दिखलाया,
तब सिसकती सफलता ने प्राण हैं पाए;
जबकि कोई स्वप्न धरती पर उतर आया,
सभ्यता की हर प्रसव-पीड़ा तभी मिटती;
जबकि ये नव रूप से अवतार लेते हैं।
स्वप्न भी आकार लेते हैं।

सत्य को इतना विरल क्यों मान लेते हैं—
जो हमारी ही परिधियों में समाया हो?
किन्तु कुछ उन्मुक्त या निस्सीम भी तो है—
एकरसता को जहां जग जान पाया हो,
सृष्टि की कमनीयता के भव्य संवाहक,
ये नहीं अपरूप को निज द्वार देते हैं।
स्वप्न भी आकार लेते हैं।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक शुक्ला १२

घटती बढ़ती मूल्य कल्पना ;
पर परमार्थ अटल रहता है।
जलती बुझती आग हृदय में ;
सत्य सभी निश्चल रहता है।

विघटन और संघटन दोनों
एक तत्त्व हैं, एक रूप हैं,
मन की प्रियता—अप्रियतावश,
एक छांह है, एक धूप है,
दोनों का व्यवहार लिए ही
जीवन का सरगम चलता है,
इस प्रवाह से विलग रह सके
वह अस्तित्व कहां मिलता है?
उठती गिरती लहरों में जल का अस्तित्व अचल रहता है।
घटती बढ़ती मूल्य कल्पना ;
पर परमार्थ अटल रहता है।

सत्य को इतना विरल क्यों मान लेते हैं—
जो हमारी ही परिधियों में समाया हो ?
किन्तु कुछ उन्मुक्त या निस्सीम भी तो है—
एकरसता को जहां जग जान पाया हो,
सृष्टि की कमनीयता के भव्य संवाहक,
ये नहीं अपरूप को निज द्वार देते हैं।
स्वप्न भी आकार लेते हैं।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक शुक्ला १२

: ३१ :

ज्योति का आह्वान करता हूं।
तिमिर की गहराइयों में जो छिपा जीवन,
आज मैं उसकी स्वयं पहचान करता हूं।

मृत्तिका ; हर बीज को ढंकती रही, लेकिन
प्रगति अंकुर की कभी रुकने नहीं पाई,
लौ जली कमनीयता की भूमि पर आकर,
किन्तु श्यामलता कभी उसको न छू पाई,
आत्म-बल पर बढ़ रही इस जिन्दगी का मैं,
सजग होकर हर समय आपान करता हूं।
ज्योति का आह्वान करता हूं।

तिमिर का तक्षक भयानक वार करता है,
पर कभी वह ज्योति को डसने न पाएगा,
प्रज्वलित होती रहेगी आग चिन्तन की,
आग्रहों के वार का अवसर न आएगा।
कालिमा के दानवों की हर पराजय पर,
मैं सदा आलोक का सम्मान करता हूं।
ज्योति का आह्वान करता हूं।

द्वैत और अद्वैत वहां पर
क्या कुछ निज को साध सकेंगे ?
जहां मुखरता और मूकता—
दोनों के ही पांव थकेंगे,
शब्दों के आवर्त्त ; किसीको
कब तक यों उलझा पाएंगे ?
जबकि सत्य के हाथ ; निरन्तर
उनको आ सुलझा जाएंगे,
उथल-पुथल में किसी धैर्य का एक सूत्र अविकल रहता है।
घटती बढ़ती मूल्य कल्पना ;
पर परमार्थ अटल रहता है।

जन्म-मृत्यु की होड़ लगी है,
कौन यहां आगे-पीछे हो ?
एक वसन का ताना-बाना,
क्या उसमें ऊपर नीचे हो ?
मन की लघुता ही गुरुता के
भाव जगाने को आती है,
तम की कलुषित सीमाएं हीं
कथा ज्योति की कह जाती हैं,
ये संस्कार विकार निरर्थक ; जब अधिकार प्रबल रहता है।
घटती बढ़ती मूल्य कल्पना ;
पर परमार्थ अटल रहता है।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक शुक्ला १३

: ३१ :

ज्योति का आह्वान करता हूं।
तिमिर की गहराइयों में जो छिपा जीवन,
आज मैं उसकी स्वयं पहचान करता हूं।

मृत्तिका ; हर बीज को ढंकती रही, लेकिन
प्रगति अंकुर की कभी रुकने नहीं पाई,
लौ जली कमनीयता की भूमि पर आकर,
किन्तु श्यामलता कभी उसको न छू पाई,
आत्म-बल पर बढ़ रही इस जिन्दगी का मैं,
सजग होकर हर समय आपान करता हूं।
ज्योति का आह्वान करता हूं।

तिमिर का तक्षक भयानक वार करता है,
पर कभी वह ज्योति को डसने न पाएगा,
प्रज्वलित होती रहेगी आग चिन्तन की,
आग्रहों के वार का अवसर न आएगा।
कालिमा के दानवों की हर पराजय पर,
मैं सदा आलोक का सम्मान करता हूं।
ज्योति का आह्वान करता हूं।

हर उभरती दीप्ति में कुछ पाप जलता है,
शून्य में उठता हुआ यह धूम बतलाता,
हर घुटन के प्राण पिघले जा रहे खुद ही,
इसलिए सब ओर जीवन व्यक्तता पाता,
आवरण से मुक्ति पाने की लगन लेकर,
मैं निरन्तर सत्य का सन्धान करता हूं।
ज्योति का आह्वान करता हूं।

श्यामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला ६

: ३२ :

चरण ज्योत्स्ना के जहां पर हैं टिके,
तिमिर का अस्तित्व रह पाता नहीं।

दीप-कलिका की लहराती देह पर
आंख चुंधियाती रही संसार की,
पर तिमिर ने हर कहीं अवरोध बन
राह रोकी है मधुरतम प्यार की,
लक्ष्य का वैषम्य इतना है यहां,
एक को फिर इतर सह पाता नहीं।
चरण ज्योत्स्ना के जहां पर हैं टिके,
तिमिर का अस्तित्व रह पाता नहीं।

टूटती रहती सदा सीमा यहां,
किन्तु कोई सन्धि हो पाती नहीं,
हों खड़े सम्मुख भले ही रात-दिन,
किन्तु मन की द्वैतता जाती नहीं,
जय-पराजय उलझनों से हैं घिरी,
मूक अनुभव मुखर हो पाता नहीं।
चरण ज्योत्स्ना के जहां पर हैं टिके,
तिमिर का अस्तित्व रह पाता नहीं।

मैं तिमिर से ज्योति के पथ पर बढ़ूं—
हर किसी की चेतना यह कह रही,
बस पराजित तम यहीं पर हो गया,
ज्योति की धारा विजयिनी बह रही,

प्यार को भी द्वार मन का मिल गया,
अब कभी सन्देह बहकाता नहीं।
चरण ज्योत्स्ना के जहां पर हैं टिके,
तिमिर का अस्तित्व रह पाता नहीं।

श्यामला
सं० २०१७ मगसर शुक्ला १०

: ३३ :

गगन झुका जब धरती पर बादल बन कर,
हर रजकण ने हो कृतज्ञ सत्कार किया।

तपन हृदय की सदा मौन हो सही गई,
पता न फिर किसने रहस्य यह खोला है ?
आर्द्र नयन हो उठे इसी पर सावन के,
चिर-पोषित धीरज का आसन डोला है,
दुख के सम-विभाग में सुख उद्भूत हुआ,
मन ने मन को मुक्त हृदय से प्यार किया।
गगन झुका जब धरती पर बादल बनकर,
हर रजकण ने हो कृतज्ञ सत्कार किया।

जब-जब रुद्ध हुए हैं स्रोत विचारों के,
तब-तब भाव पिपासित रहते आए हैं,
उमड़ पड़ेगा कभी किसी का गीलापन,
बस इतनी आशा पर सांस टिकाए हैं,
खुला द्वार जब कभी किसी की पीड़ा का,
तब इस मन ने पौरुष को धिक्कार दिया।
गगन झुका जब धरती पर बादल बनकर,
हर रजकण ने हो कृतज्ञ सत्कार किया।

बादल की करुणा या धरती की ममता ;
नहीं अकेली रह कर कुछ भी कर पाती,
दो अपूर्णताओं का जब संगम होता,
पूरक बनकर वहां पूर्णता है आती,
रुकी कल्पनाओं के बन्धन खोलो अब—
स्वयं गगन ने धरती को यह भार दिया।
गगन झुका जब धरती पर बादल बनकर,
हर रजकण ने हो कृतज्ञ सत्कार किया।

थामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला १२

: ३४ :

मेरे जीवित विश्वासों के ये बादल हैं,
जहां बरस जाएंगे ; अंकुर उग आएंगे।

ये निर्धूम वह्नि जैसा उद्दीप्त वज्र ले,
जब जब आये, इस धरती का पाप जल गया,
बहे रजकणों में मिलकर जब सुधा-शक्ति ले,
मन का चिर-पोषित, चिर-अर्जित ताप धुल गया,
ये हैं पुनीत मानस में से उद्भूत हुए,
इसलिए जहां जाएंगे ; आदर पाएंगे।
मेरे जीवित विश्वासों के ये बादल हैं,
जहां बरस जाएंगे ; अंकुर उग आएंगे।

हर भले-बुरे का यहां परीक्षण होता है,
जग की आंखों का निकष बहुत ही सच्चा है,
जब स्वार्थ बोलता हो जीवन के कण-कण में,
तब भी इसका निष्कर्ष न पाया कच्चा है,
मुझसे संसार अपरिचित है तो हुआ करे,
गतिशील चरण खुद मेरे ही घर आएंगे।
मेरे जीवित विश्वासों के ये बादल हैं,
जहां बरस जाएंगे ; अंकुर उग आएंगे।

मुझसे इस जग को बहुत-बहुत आशाएं हैं,
इसलिए उसीको मैंने सब कुछ दे डाला,
पर सदा चकित होकर मैंने यह देखा है—
मेरे जीवट का रिक्त नहीं होता प्याला,
विश्वास स्वयं मेरे जीवन के श्वास बने,
सबके हित की सीमा वे और बढ़ाएंगे।
मेरे जीवित विश्वासों के ये बादल हैं,
जहां बरस जाएंगे ; अंकुर उग आएंगे।

थामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला १३

[आवर्त

: ३५ :

फूल अन्य है, शूल अन्य है, पर दोनों का मूल एक है।

मृदुता की लोलुपता ; मन में
फूलों का अनुराग जगाती,
और घृणा का दावानल
शूलों की चुभन रही सुलगाती,
फूल रहे ; मिट जाय शूल—
यह न्याय प्रकृति को मान्य नहीं है,
सम अनुभूति बने दोनों की,
यह भी तो अनुमान्य नहीं है,
जब अस्तित्व मिटा दोनों का,
तब धरती की धूल एक है।
फूल अन्य है, शूल अन्य है, पर दोनों का मूल एक है।

प्रिय अप्रिय की सीमा में ही
जन्म-मृत्यु को बांध रहा जग,
किन्तु परस्पर मिलन हेतु
दोनों के बढ़ते रुके कहां पग ?
परिवर्तन के आवर्त्तों में
भ्रान्त क्रमिकता हुई मौन है,
क्या बतलाया जा सकता अब
प्रथम और अप्रथम कौन है ?
जन्म इष्ट है, मृत्यु नेष्ट है,
पर ये दोनों भूल एक है।
फूल अन्य है, शूल अन्य है, पर दोनों का मूल एक है।

द्वैत और अद्वैत परस्पर
हो अनुविद्ध यहां रहते हैं,
किसी एक की अवगणना से
महल सत्यता के ढहते हैं,

नश्वरता के छिद्रों में
कोई अविनश्वर झांक रहा है,
'नास्तिभाव' में छिपे 'अस्ति' का—
मूल्य वही तो आंक रहा है,

शब्द भिन्न हैं; किन्तु अर्थ में
सूक्ष्म और यह स्थूल एक है।

फूल अन्य है, शूल्य अन्य है, पर दोनों का मूल एक है।

शामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला १४

: ३६ :

मान्य धरा की है सीमाएं,
नभ निस्सीम रहे अपने में।

लघुता में विश्वास किया तो
विभुता की क्यों प्यास जगे यह ?
सब की सांसों में बसने की
क्यों जीवन की आस लगे यह ?
भावों के तट पर शब्दों की
भीड़ लगाना ही निष्फल है,
काम्य प्राप्त हो सके; वहीं तक
संग कल्पना का उज्ज्वल है,
मुझे तोष अपनी जागृति में,
मिले किसी को कुछ सपने में।
मान्य धरा की हैं सीमाएं,
नभ निस्सीम रहे अपने में।

गति कितनी ही प्रिय चाहे हो,
पर स्थिति का व्यवधान रहेगा,
यही विवशता है पैरों की,
जग इसको बलिदान कहेगा,
भव्य चेतना के मन्दिर में
पूजा का व्यवहार नहीं है,
नव जीवन का देव किन्हीं
भूलों का उपसंहार नहीं है,

द्वैत और अद्वैत परस्पर
हो अनुविद्ध यहां रहते हैं,
किसी एक की अवगणना से
महल सत्यता के ढहते हैं,

नश्वरता के छिद्रों में
कोई अविनश्वर झांक रहा है,
'नास्तिभाव' में छिपे 'अस्ति' का—
मूल्य वही तो आंक रहा है,

शब्द भिन्न है ; किन्तु अर्थ में
सूक्ष्म और यह स्थूल एक है।
फूल अन्य है, शूल्य अन्य है, पर दोनों का मूल एक है।

शामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला १४

: ३७ :

मन के नभ में उड़े जा रहे
मेरी विकल कल्पना के खग।

गति की सीमाएं जीवन को
कभी नहीं स्वीकार हुई हैं,
स्थिति की विवश शृंखलाओं का
वे केवल आधार हुई हैं,
बीज सभी तरु हो जाएं;
इतना धरती पर स्थान नहीं है,
सब की श्रद्धा पचा सके;
ऐसा कोई भगवान् नहीं है;
मैंने जग को मुक्त कर दिया,
अब मुझको भी मुक्त करे जग।
मन के नभ में उड़े जा रहे
मेरी विकल कल्पना के खग।

सबकी लोलुप दृष्टि बचाकर,
तरु-शाखा पर नीड़ बनाया,
उसका भी अस्तित्व वहां पर,
धरती वालों को न सुहाया,
मूल धरा में हो जिसका; वह
स्वयं धरा का ही होता है,
नभ पर विजयी अभियानों की
स्मृति को यह स्मारक होता है,

पता नहीं इन दोनों में से
किसे कौन सा भाव रहा ठग?
मन के नभ में उड़े जा रहे
मेरी विकल कल्पना के खग।

यहां धरा का और व्योम का
सर्व हेतु निर्मुक्त द्वार हो,
उड़े या कि ठहरे खग कोई,
उसका अपना ही विचार हो,
सत्य और सपनों का अन्तर
रहे; या कि फिर वह मिट जाए?
दोनों जीवन के सहयोगी,
वृथा परस्पर क्यों टकराएं?
देख रहा मैं; किसने कितना
पार किया है अव्याहत मग?
मन के नभ में उड़े जा रहे
मेरी विकल कल्पना के खग।

थामला
सं० २०१७ पोष कृष्णा ३

: ३८ :

चिन्तन के स्वर मूक हो गए,
अनुभव के भी थके इशारे।
जीवन-सरिता के तब कैसे—
टिक पाएंगे सजग किनारे ?

घुमड़ रही हैं बहुत व्यथाएं,
कब तक कोई करे प्रतीक्षा ?
बनी स्वयं संदिग्ध मनुजता,
किसकी मानें सत्य समीक्षा ?
उलझ रहा विश्वास ; स्वयं के
तर्कों के ही इस जंगल में,
हार रहा है सत्य यहां पर
सबके सम्मुख हर दंगल में,
क्या आधार बचेगा जिस पर
टिक पाने की बात विचारे ?
चिन्तन के स्वर मूक हो गए,
अनुभव के भी थके इशारे।

प्यास किसी की लिए हृदय में
जीवन यह चलता जाता है,
आतप-छाया का कलहानल
पथ को धूमिल कर जाता है,

देख लक्ष्य की अमित उच्चता ;
चरण आत्म-बल तोल रहे हैं,
पथ के विघ्न यहीं अपने—
जीवन की गांठें खोल रहे हैं,
स्वार्थ-निकष पर कसे जा रहे ;
उचित और अनुचित ये सारे।
चिन्तन के स्वर मूक हो गए,
अनुभव के भी थके इशारे।

प्रश्न-चिह्न हर एक कदम पर
गति को भ्रान्त किया करता है,
हर प्रमाद साहस के प्रण को
निरुत्साहिता से भरता है,
जीवन का पीयूष ; विवश हो
गरल-पान करता रहता है,
संशय के आवर्तों में जग
बहता-बहता है,
क्यों पीने अनिवार्य हो गए
दुर्बलता को आंसू खारे ?
चिन्तन के स्वर मूक हो गए,
अनुभव के भी थके इशारे।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक शुक्ला १४

जीवन की धारा के पथ में ये आवर्त्त बहुत आते हैं,
किन्तु वेग मानस की गति का रोक नहीं पल भर पाते हैं।

उमड़ रहे विश्वास हृदय के,
आत्म-शक्ति का हुआ निमन्त्रण,
अवरोधों से समर-हेतु
व्याकुल है इस जीवन का कण-कण,
रुकने का पल नहीं चाहिए
इस गतिशील जन्म में मुझको,
विजयी ये अभियान हृदय में जीवन का रस भर जाते हैं।
जीवन की धारा के पथ में ये आवर्त्त बहुत आते हैं।

उपादान जब कार्य रूप में
नयनों के सम्मुख आता है,
वही सत्य का पद ले लेता,
शेष उपेक्षित रह जाता है,
पर मेरे चिन्तन की आंखें
वह गहराई देख रही हैं,
जहां सूक्ष्मतम ही बचते हैं, स्थूल सभी ये मिट जाते हैं।
जीवन की धारा के पथ में ये आवर्त्त बहुत आते हैं।

लांघ रहे शव राह समय की,
पर गन्तव्य न जान सके हैं,
लक्ष्य हीनता की वेदी पर
बलिदानों के शीश टिके हैं,
जिन विश्वासों का उखड़ा सा—
श्वास यहां चलने लगता है,
वे ही गति के इस उत्सव में पैर बढ़ाते घबराते हैं।
जीवन की धारा के पथ में ये आवर्त्त बहुत आते हैं।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक शुक्ला १५

: ४० :

मधु को लेकर ओट; गरल-व्यापार यहां चलता है।

स्मित की गहराई में बहुधा
रुदन सुना जा सकता,
हर उल्लास; विषादों का
स्वागत करते कब थकता?
निःश्वासों की राह सदा
उच्छ्वास बनाया करते,
अनुभव के क्षण को मन के
सपने बहकाया करते,
नीरवता को सदा मुखर व्यवहार रहा छलना है।
मधु की लेकर ओट; गरल-व्यापार यहां चलता है।

मन का चिन्तन; वाणी के
तट पर जब तक आता है,
तब तक उसका भाव; स्वयं में
शंकित हो जाता है,
छिप जाता कथनीय; कहीं
अन्तर की गहराई में,
जो अवाच्य; वह रह जाता
ऊपर सतही काई में,
हर उपाय बन स्वयं समस्या; जीवन में पलता है।
मधु की लेकर ओट; गरल-व्यापार यहां चलता है।

सीमा का सम्मान स्वयं में
वाद बना रहता है,
केवल शब्दों का प्रवाह
कर्तव्यों पर बहता है,
विश्वासों पर इस मन का
सन्देह हुआ जाता है,
श्रद्धा की हर सांस तोड़कर
तर्क उभर आता है,
जीवन की प्रज्वलित चिता पर सदा मरण पलता है।
मधु की लेकर ओट; गरल-व्यापार यहां चलता है।

श्यामला
सं० २०१७ मृगसर शुक्ला ८

: ४१ :

गहन हों जब प्रश्न; उत्तर सहज कर दो।

उलझते व्यापार मन के हैं निरन्तर,
तुम उन्हें अधिकार की वाणी न बोलो,
मौन में अपनी सबलता को छिपाओ,
किन्तु शब्दों में न उनका भेद खोलो,
सूक्ष्मता की शक्ति से परिचित रहो तुम,
स्थूलता की दीनता उसमें न भर दो।
गहन हों जब प्रश्न; उत्तर सहज कर दो।

ताप इतना है कि सब कुछ पिघलता है,
किन्तु कैसे चेतना को पिघलने दूं?
आंख के घर जो अतिथि आते रहे हैं,
क्यों उन्हें फिर विकलता से निकलने दूं?
तिमिर से केवल घृणा ही कर रहे तो,
भावना की देहली पर दीप धर दो।
गहन हों जब प्रश्न; उत्तर सहज कर दो।

कौन कितने प्राण से प्रेरित हुआ है,
बुद्धि का यह निकष क्या बतला सकेगा ?
मनुज से उसकी मनुजता जोड़ने में,
कौन सा युग-चरण है; जो फिर थकेगा ?
क्यों किसी प्रतिबिम्ब में तुम उलझते हो ?
सत्य को गति के लिए नूतन शिखर दो।
गहन हों जब प्रश्न; उत्तर सहज कर दो।

राजनगर
सं० २०१७ कार्तिक कृष्णा ३

: ४२ :

मैं तो बीहड़ में भी एकाकी चल लूंगा,
तुम साथ चलो; न चलो; अपना निर्णय कर लो।

मुझको मेरे पैरों पर है विश्वास कि—ये
चाहे फूलों पर; या कांटों पर टिक जायें,
पथ भूलेंगे न कहीं, मृदुता आ सहलाये,
अथवा कठोरता तीक्ष्ण नोक बन चुभ जाये,
मेरी चिन्ता से बनो नहीं इतने दुबले,
तुम पहले अपने ही भय-सागर को तर लो।
मैं तो बीहड़ में भी एकाकी चल लूंगा,
तुम साथ चलो; न चलो; अपना निर्णय कर लो।

साथी सब मुझको मिले उदार-हृदय; लेकिन
विश्वास न मेरा कभी बदल वे पाए हैं,
मैंने चाहे सब कुछ ही उनको दे डाला,
चाहे उन पर मुझसे कुछ संकट आये हैं,
तुम समझ न पाओगे शायद यह बात अभी,
इसलिए प्रथम अपने मन के संशय हर लो।
मैं तो बीहड़ में भी एकाकी चल लूंगा,
तुम साथ चलो; न चलो; अपना निर्णय कर लो।

मैं पहले जो चल पड़ा; हुआ कुछ आगे हूं,
बस इसलिए तुम गति को बुरा बताते हो
मेरी स्खलनाओं का लेखा-जोखा रखते हो,
कुण्ठित हो बैठे; स्वयं न कदम बढ़ाते हो
मैं रुकूं प्रतीक्षा को; इससे तो अच्छा है,
तुम ही अपनी गति के क्रम में त्वरता भर लो।
मैं तो बीहड़ में भी एकाकी चल लूंगा,
तुम साथ चलो; न चलो; अपना निर्णय कर लो।

गोगुन्दा
सं० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला ६

: ४३ :

मेरी छाया बहुत बड़ी हो सकती है; लेकिन
मेरे इन चरणों से दूर नहीं जा सकती है।

मैं बैठा हूं; किन्तु मुझे कब पूछ रहा कोई,
सब कुछ मेरी छाया से ही पूछा जाता है,
मेरे से तो कतरा कर सब कोई चलते हैं,
जो आता है, वह छाया के ही घर आता है,
मैं तटस्थ सा मौन सोचता ही रह जाता हूं,
क्या मेरा पद भी मेरी छाया पा सकती है?
मेरी छाया बहुत बड़ी हो सकती है; लेकिन
मेरे इन चरणों से दूर नहीं जा सकती है।

मेरे मन को रुचिकर न यहां पर जो लगता है,
मैं उसका प्रतिकार सदा निर्भय हो करता हूं,
जग मुझसे सहमति लेना चुपचाप चाहता है,
पर मैं अपने तर्क वहां निश्चल हो धरता हूं,
बस इसीलिए तो मुझसे इस जग की पटी नहीं,
पर मेरी मति भी यों हार नहीं खा सकती है।
मेरी छाया बहुत बड़ी हो सकती है; लेकिन
मेरे इन चरणों से दूर नहीं जा सकती है।

यह दुविधाओं का पथ मैंने जब स्वयं चुना है,
जग मेरी इस छाया को सुविधा दिखलाता है,
गहरे घाव लगे हैं मेरे सीने पर; लेकिन
वह मेरी छाया को ही केवल सहलाता है,
समझ रहा हूं मैं इस गतिविधि को; लेकिन
तुम समझ रहे हो; मुझ में समझ न आ सकती है,
मेरी छाया बहुत बड़ी हो सकती है; लेकिन
मेरे इन चरणों से दूर नहीं जा सकती है।

गोगुन्दा
सं० २०२७ आषाढ़ शुक्ला ५

: ४४ :

मेरे मन की बात तुम्हारे मन ने पहचानी,
इसीलिए तो रही न कोई घटना अनजानी।

हर ध्वनि का व्यक्तित्व यहां प्रतिध्वनि से निखरा है,
हर आकृति का तत्त्व यहां प्रतिकृति में बिखरा है,
एकाकी कोई न जगत में रहने पाया है,
हर उत्तर के जीवन में ही प्रश्न समाया है,
पर को निजता का अर्पण क्यों हो फिर नादानी ?
मेरे मन की बात तुम्हारे मन ने पहचानी,
इसीलिए तो रही न कोई घटना अनजानी।

रजनी ने अपना मुख कब दिन को दिखलाया है ?
दिन भी कर फैला कब रजनी-तन छू पाया है ?
फिर भी दोनों में कुछ द्वैत न टिका यहां पर है,
एक-अनेक कहे कुछ भी, क्या होना अन्तर है ?
जीवन की यह गांठ खोलता कोई बलिदानी।
मेरे मन की बात तुम्हारे मन ने पहचानी,
इसीलिए तो रही न कोई घटना अनजानी।

मेरा आग स्वयं मेरी स्मृति में ही औटा दूं,
औरों के सुख-दुख उनको ही वापिस लौटा दूं,
किन्तु न जान सका इसमें केवल मेरा कितना ?
और तुम्हारे सहयोगों से कितना भाग बना ?
इस सीमांकन में कुछ भी तो हुई न आसानी।
मेरे मन की वात तुम्हारे मन ने पहचानी,
इसीलिए तो रही न कोई घटना अनजानी।

राजनगर

सं० २०१७ श्रावण शुक्ला ६

: ४५ :

जीवन का पथ बहुत घुमाव लिए चलता है।

एक चरण भी बिना निहारे यदि धरते हो,
अपना ही अस्तित्व संशयास्पद करते हो,
निकट लक्ष्य की प्राप्ति यहां केवल माया है,
आतप का साम्राज्य; अल्पतम ही छाया है,
पता न फिर वैषम्य यहां का कब छलता है?
जीवन का पथ बहुत घुमाव लिए चलता है।

शून्य व्योम यह नहीं कि तुम उड़ते ही जाओ,
नहीं कल्पना-लोक; जहां बढ़ते ही जाओ,
यह तो ऐसा अभिनव ही एक धरातल है,
मानव जहां कसौटी के भय से व्याकुल है,
पता नहीं तुम में फिर कैसे भ्रम पलता है?
जीवन का पथ बहुत घुमाव लिए चलता है।

यह हर घुमाव अपनी ही एक विवशता है,
अपने ही भय का राहु स्वयं को ग्रसता है,
युग-युग से चलते हो, पर इनका अन्त कहां?
सब का ही है मानो अस्तित्व अनन्त यहां,
पर साहस के सम्मुख विधि-आसन हिलता है।
जीवन का पथ बहुत घुमाव लिए चलता है।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण शुक्ला १२

: ४६ :

मुझे नहीं वरदान चाहिए और नहीं अभिशाप,
मेरे जीवन को बढ़ने दो; तुम अपने ही आप।

मेरी शक्ति खपे जितनी;
उतना जागृत हो श्रेय,
इससे बढकर और नहीं है
मुझ को कुछ भी प्रेय,
नहीं चाहिए पुण्य किसी का
और किसी का पाप।
मुझे नहीं वरदान चाहिए और नहीं अभिशाप।

बरस रहा है व्योम; किसी के
दुख पर आंसू धार,
तरस रहा है मरुथल कोई;
गमा किसी का प्यार,
किन्तु छा रहे हैं किस पर ये
स्नेह और उत्ताप -?
मुझे नहीं वरदान चाहिए और नहीं अभिशाप।

[आवर्त

दूर क्षितिज के पार; पपीहा
पी-पी टेर रहा,
शून्य दिशाओं का कोलाहल
मुझ को घेर रहा,
हो किसका उल्लास मुझे;
फिर किसका पश्चात्ताप?
मुझे नहीं वरदान चाहिए और नहीं अभिशाप।

राजनगर
सं० २०१७ श्रावण शुक्ला १५

: ४८ :

मेरे मन के परत खोलकर मत देखो तुम,
पता नहीं कब वहक जाय कोइ चिनगारी।

जीवन के जलते प्रश्नों की इस समाधि पर,
फूल चढ़ाकर तुम उनका अपमान करोगे,
अश्रु-विन्दुओं की कवोष्ण सी जल धारा से,
सींचोगे तो तुम उनकी कुछ प्यास हरोगे,
सोये रहने दो; सचेत मत इन्हें करो तुम,
होऊंगा मैं इससे सचमुच ही आभारी।
मेरे मन के परत खोलकर मत देखो तुम,
पता नहीं कब वहक जाय कोई चिनगारी।

मुझ से जग ने क्या कुछ चाहा; नहीं जानता,
पर मैंने जो चाहा; वह भी मिल न सका है,
निःश्वासों को बहुत बहुत रोका मैंने; पर
कभी काफिला उनका पल भर भी न रुका है।
भूत और भावी का मैं संगम हूं; लेकिन
बन जाओ मत तुम उनके केवल व्यापारी।
मेरे मन के परत खोलकर मत देखो तुम
कब वहक जाय कोई चिनगारी।

[आयत्त

जग के विकृत चक्षुओं से कुछ बचा बचाकर,
मैंने तो अपनी ही ऊष्मा को पाला है,
फिर क्यों मेरा मर्म कुरेदा जाता है यों ?
जिसमें सुप्त पड़ी मेरी अन्तर्ज्वाला है,

मत छेड़ो मेरे मन के हाहाकारों को,
वंश-जनित पीड़ा के क्यों बनते अधिकारी ?
मेरे मन के परत खोलकर मत देखो तुम,
पता नहीं कब बहक जाय कोई चिनगारी।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन कृष्णा १३

धड़कनें बढ़ती हुई मानो हृदय की,
व्यक्त चिन्ताएं किसी मस्तिष्क की ये,
स्नेह की शत-शत भुजाएं हैं प्रलम्बित,
बोलती मानों कथाएं इश्क की ये,
मूक श्रम की फैलती किरणें सुशोभित ,
हास का प्रतिहास यह किसने सजाया ?
सुप्त लहरों को पवन ने है जगाया।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव कृष्णा ६

: ५० :

सलिल में लहरें उठा करती सहस्रों,
किन्तु तट तक तो विरल ही पहुंच पातीं।

प्राप्य सब का एक; पर अवसर पृथक् हैं,
इसलिए सबको सफलता है कहां पर ?
हर विफलता से नया उत्साह लेकर,
नई पीढ़ी बढ़ रही आगे यहां पर,
हर प्रगति ने विजय को चाहा भले हो,
किन्तु उस पर स्वयं को कुछ ही मिटातीं।
सलिल में लहरें उठा करती सहस्रों,
किन्तु तट तक तो विरल ही पहुंच पातीं।

है निराशा से भरा जीवन यहां का,
हृदय पग-पग पर विवश हो टूटता है,
साथ चल सकता न कोई एक पग भी,
आ रहे रेले कि आश्रय छूटता है,
नाग-पाशों की कतारें ये परस्पर—
उलझतीं; पर फिर स्वयं ही सुलझ जातीं।
सलिल में लहरें उठा करती सहस्रों,
किन्तु तट तक तो विरल ही पहुंच पातीं।

[आवर्त

ये किसी की हैं भुजाएं ही प्रलम्बित,
खोज में आलम्ब की जो घूमती हैं,
किन्तु जब-जब कूल ने दुत्कार दी है,
मृत्यु के तब-तब चरण ये चूमती हैं,
साधना शत-शत भवों से है प्रताड़ित,
किन्तु आशा को नहीं ये छोड़ पातीं।
सलिल में लहरें उठा करती सहस्रों,
किन्तु तट तक तो विरल ही पहुंच पातीं।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव शुक्ला ६

: ५१ :

बीज को विस्तार का पथ तब मिला है,
जबकि निज अस्तित्व उसने है मिटाया।

दान जब सीमा लिए आता यहां है,
तब न खुल पाता हृदय का द्वार कोई,
विजय के पग डगमगाते हैं वहीं तक,
मौत से जुड़ता न जब तक तार कोई,
'कुछ' नहीं; पर हृदय 'सब कुछ' मांगता है,
इसलिए व्यापार का क्षण टिक न पाया।
बीज को विस्तार का पथ तब मिला है,
जबकि निज अस्तित्व उसने है मिटाया।

प्यार बादल का धरा को दे गया जो,
अंकुरित होकर वही तो उभरता है,
गोद सूनी एक युग से जो पड़ी थी,
आज फिर मातृत्व उसमें निखरता है,
फलित सपनों ने किसी प्राचीनता पर—
फिर नया संसार यह अपना बसाया।
बीज को विस्तार का पथ तब मिला है,
जबकि निज अस्तित्व उसने है मिटाया।

एक जब बहुभाव का इच्छुक हुआ तो,
पूर्णता ने पूर्णता ही निखर आई,
मृत्यु के बहु-अनुभवों मुख पर सहज ही,
जन्म की सुषमा प्रखर हो जगमगाई,
त्याग निष्फल हो न पाया है कहीं पर,
प्रकृति ने उसमें सफलता को बसाया।
बीज को विस्तार का पथ तब मिला है,
जबकि निज अस्तित्व उसने है मिटाया।

राजनगर
सं० २०१७ भाद्रव कृष्णा १५

: ५२ :

छाया का विश्वास न कोई कर पाता है।
पर-इंगित पर हानि-वृद्धि जिसकी जकड़ी हो,
मन जिज्ञासु सत्य का वहां न भर पाता है।

तम का ही तो एक संस्करण यह छाया है,
किसी कालिमा ने नव जीवन फिर पाया है,
ज्योति-पुंज की क्रियाशीलता के सम्मुख क्यों
निष्क्रिय सा यह प्रश्न-चिह्न ला विठलाया है?
सुफल प्राप्ति की विफल कामना का प्रहरी यह,
मन की सजग चेतना को ही हर जाता है।
छाया का विश्वास न कोई कर पाता है।

किसी वस्तु की ओट लिए सम्मुख आती है,
हर प्रकाश से क्योंकि बहुत ही कतराती है,
तम को धोते-धोते यह अवशेष रह गई,
किरणों की तत्परता आखिर थक जाती है,
आतप सदा प्रलोभन देता ही रहता है,
पता नहीं फिर क्यों इसका मन डर जाता है?
छाया का विश्वास न कोई कर पाता है।

[आवर्त

हर पदार्थ के कृष्ण पक्ष की ज्यों अनपेक्षित,
सहमी-सहमी, सकुचानी सी सदा उपेक्षित,
मरु-मरीचिका में भटकी हरिणी सी चंचल,
जल-प्लावन से घिरे स्थान सी सदा अरक्षित,
जीवन के निःश्वासों सी इस कलुष-काय पर,
क्यों फिर श्रान्त पथिक का प्यार उमड़ आता है?
छाया का विश्वास न कोई कर पाता है।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन शुक्ला १

: ५३ :

सान्ध्य-तारा टिमटिमाता सा धरा पर झांकता है।

सूर्य की अपमृत्यु ने
इतनी विकलता को बिखेरा,
हसित-वदना धरा के
मुख पर घिरा सहसा अंधेरा,
शोक सागर में सभी ये
दृश्य डूबे जा रहे हैं,
दे रहा हर किरण पर
अज्ञात कोई नाग घेरा,
जिन्दगी की विवशता यह, हृदय कोई आंकता है।
सान्ध्य-तारा टिमटिमाता सा धरा पर झांकता है।

ज्योति की नश्वर कहानी
प्रात दुहराता रहेगा,
किन्तु इस क्षण के लिए
विश्वास उसका क्या कहेगा ?
समय के पथ पर, झिझकते
हैं चरण कब यामिनी के ?
पर किसी अभिसार को
संसार यह कैसे सहेगा ?
श्वास भी निःश्वास का रथ इस दिशा में हांकता है।
सान्ध्य-तारा टिमटिमाता सा धरा पर झांकता है।

[प्रावर्त

चेतना के लोचनों में
स्वप्न घिरते जा रहे हैं,
कल्पना के पंख, उड़ने
की सबलता पा रहे हैं,

मूक मन के पैर ये
विश्रान्ति को आतुर हुए हैं,
प्राण; तन्द्रा के जलधि में
अब समाधि लगा रहे हैं,

तम-पराजित जगत का हर कण स्वयं को ढांकता है।
सान्ध्य-तारा टिमटिमाता सा धरा पर झांकता है।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन शुक्ला ८

: ५४ :

अब धरती पर विद्युत के नव दीप जलेंगे।
दंभ भरे चंचल समीर के निष्ठुर झोंके,
इस प्रकार की सत्ता को न कभी निगलेंगे।

मिट्टी ने यह रूप स्वयं का बदल लिया है,
स्नेह - सिक्त अब खुला न कोई हृदय रहेगा,
लौ के मादक आह्वानों पर किसी शलभ के—
प्राणों का वलिदान हुआ; यह कौन कहेगा?
जला करेगा बस केवल उत्ताप यहां पर,
स्वयं प्रणय की आंखों से तव अश्रु ढलेंगे।
अब धरती पर विद्युत के नव दीप जलेंगे।

स्नेह नहीं; अब शक्ति दीप्ति का कारण होगी,
कोमल दशा धातुमय तारों में बदलेगी,
दीप-शिखा सिर ऊपर नहीं उठा पायेगी,
जीवन की गतिविधि यंत्रित हो यहां ढलेगी,
विश्वासों को कितना ही ऊंचा कर लो तुम,
किन्तु यहां तो जीवन के निःश्वास पलेंगे।
अब धरती पर विद्युत के नव दीप जलेंगे।

किसी मानिनी के नयनों की सुषमा घुल-घुल,
अब काजल से कलुषित कभी न हो पाएगी,
क्योंकि यहां प्राचीन प्रसाधन की संज्ञा में,
स्मृति उसकी कोशों में दबकर रह जाएगी,
तम के सब प्रतिरूप पराजित हो जाएंगे,
पग-पग पर जीवन की आशा को न छलेंगे।
अब धरती पर विद्युत के नव दीप जलेंगे।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन कृष्णा ६

: ५५ :

मन के नभ पर ये काले बादल छा जाते हैं,
जब निःश्वास उन्हें प्रेरित करने आ जाते हैं।

हर पल में ये भाव स्वयं का मूल्य बदलते हैं,
पतन और उत्थान साथ में लेकर चलते हैं,
किसने इनकी गति पर कोई रोक लगाई है,
सपनों के जीवन में ये छिप-छिपकर छलते हैं,
चिर-परिचित पथ पर मुझको खुद ही पा जाते हैं।
मन के नभ पर ये काले बादल छा जाते हैं।

तुम कहते हो; जब जब घन में विद्युत चमकेगी,
तब तब एक प्रकाश किरण भी उसमें दमकेगी,
किन्तु जलन ही मिली मुझे, अब क्या विश्वास करूं
प्रश्नांगार लिए कब यह चिन्ता आ धमकेगी ?
जलते प्राणों की अतृप्ति ये मिटा न पाते हैं।
मन के नभ पर ये काले बादल छा जाते हैं।

[आवर्त

दूर क्षितिज के पार; नया संसार वसा होगा,
किन्तु मुझे तो इस जीवन का एक नशा होगा,
युग-युग की अभिलाषा तृप्ति यहीं पर पाएगी,
विद्यमान पर यह मेरा विश्वास कसा होगा,
भूत भविष्य वृथा ही मुझ पर रोक लगाते हैं।
मन के नभ पर ये काले बादल छा जाते हैं।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन शुक्ला १४

: ५६ :

तुम वसुधा पर सुधा सींचते रहते हो,
वस इसीलिए यह विषमय भी जग जीता है।

आघातों प्रत्याघातों की कुटिल चाल ने
हर सीधेपन को घुमाव में डाल दिया है,
वाणी में माधुर्य घोलकर ही छलना ने
कर्तव्यों के मानस को विभ्रान्त किया है,
किन्तु पूर्ण दिखने वाला यह मानव का मन,
पता नहीं कब से यों बिलकुल ही रीता है?
तुम वसुधा पर सुधा सींचते रहते हो,
वस इसीलिए यह विषमय भी जग जीता है।

यों बहुत दूर तक आज कल्पना की गति है,
पर कोई भी उड़ने वाला तैयार नहीं है,
सब को बलि का पथ बहुत भयानक लगता है,
अपने साहस पर भी अपना अधिकार नहीं है,
ओठों पर लिए सदा वसन्त सी मुस्कानें,
अपने खारे आंसू मन ही मन पीता है,
तुम वसुधा पर सुधा सींचते रहते हो,
वस इसीलिए यह विपमय भी जग जीता है।

यह नील गगन से उतर रही है शरद् रात,
अपनी ज्योत्स्ना के साथ कलाधर आया है,
फेंको मानव; ये तरल गरल से भरे पात्र,
पीयूष तुम्हारे लिए भेंट को लाया है,
अपनी मधुमयता को अब ऊपर आने दो,
भूलो उस युग को; जो कटुता में बीता है,
तुम वसुधा पर सुधा सींचते रहते हो,
बस इसीलिए यह विषमय भी जग जीता है।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन पूर्णिमा

मेरे जीवन को छलनाएं बांध न पाएंगी,
मेरी गति में बंधकर वे प्रतिहत हो जाएंगी।

चिन्मयता की ज्योति प्रबल होकर जब आती है
तम के यदि आंखें हों; तो वे भी मुंद जाती हैं,
हर प्रकाश के लिए काम यह कठिन हुआ करता,
जबकि पराजित रिपु; सम्मुख आने से ही डरता,
मेरी सहिष्णुता फिर भी तट लांघ न जाएगी
मेरे जीवन को छलनाएं बांध न पाएंगी।

मैंने तम के घर में ही जब दीप जलाया है,
अपने मन का स्नेह अयाचित उसे पिलाया है,
वह मेरे इंगित की रेखा लांघ न पाएगा,
जब तक सांस चलेगी; तब तक वचन निभाएगा,
आदर्शों की यहां अवज्ञा जीत न पाएगी।
मेरे जीवन को छलनाएं बांध न पाएंगी।

[आवर्त

जन्म-जन्म का साथी तम; या फिर उद्योत रहा,
जिसने जो चाहा; समझाकर मुझ से वही कहा,
मन की आंखें खुलीं न जब तक; मैंने सब माना,
पर अब सत्य निखर आया तो सब कुछ पहिचाना,
भावुक मन पर अब असत्य की प्रभा न छाएगी।
मेरे जीवन को छलनाएं बांध न पाएंगी।

राजनगर
सं० २०१७ आश्विन शुक्ला १२

हर विनाश अपने में नव निर्माण लिए आता है।
इसीलिए तो हर नश्वर ; अविनश्वर बन जाता है।

नभ की घुटन, पिघल कर
सावन का जीवन बन जाती,
प्यासी धरती के प्राणों में
हरियाली मुस्काती,
बदल रही क्षण संतति में
सब कुछ पुराण हो जाता,
पर नवीनता का अंकुर
फिर-फिर ऊपर उठ आता,
मिट-मिट कर बनने का यह क्रम टूट नहीं पाता है।
हर विनाश अपने में नव निर्माण लिए आता है,
इसीलिए तो हर नश्वर ; अविनश्वर बन जाता है।

स्थिति पर ही तो चरण टिकाकर
गति आगे बढ़ती है,
किसी निम्नता का अवलम्बन
पा ; उन्नति चढ़ती है,
कभी उपेक्षित कर विपक्ष को,
पक्ष न जीवित रहता,
मौन अन्तरित हुए बिना
कब वचन अर्थ को कहता ?

हर विरोध में छिपा समन्वय छूट नहीं पाता है।
हर विनाश अपने में नव निर्माण लिए आता है,
इसीलिए तो हर नश्वर ; अविनश्वर वन जाता है।

मन की चंचलता, तन की
गतिविधि पर छा जाती है,
तन की विकृति सदा इस मन को
भुना-भुना जाती है,
जड़ चेतन के सूत्र परस्पर
ओत-प्रोत रहते हैं,
जीवन-पट के घटक, यही
सन्देश यहां कहते हैं,
स्वयं अल्पता से वहुता का सत्व फूट आता है।
हर विनाश अपने में नव निर्माण लिए आता है,
इसीलिए तो हर नश्वर ; अविनश्वर वन जाता है।

धरती को प्यास लगेगी तो
सावन खुद ही आ जायेगा।

मन का अनुराग पुकारे तब
हर मंजिल छोटी हो जाती,
मनुहार प्यास की ऐसी है—
जो मूक सभी कुछ कह जाती,
शिशु नयन तमोवृत होंगे तो
उद्योत स्वयं नहलायेगा।
धरती को प्यास लगेगी तो
सावन खुद ही आ जायेगा।

अज्ञात किसी स्थल पर रजनी
दिन से मिलने को जाती है,
हर रोज उषा के स्वप्नों में
रवि की असवारी आती है,
क्रम भंग मृत्यु कर डालेगी
तो जीवन आ सहलायेगा।
धरती को प्यास लगेगी तो
सावन खुद ही आ जायेगा।

[आवर्त

विघटन की ज्वलित चिताओं पर
कुछ नये संघटन उगते हैं,
सांसों की चादर में लिपटे
सहमे से प्राण सुलगते हैं,
पतझर से उपवन को भय क्या ?
खुद आ मधु मास सझायेगा।
धरती को प्यास लगेगी तो
सावन खुद ही आ जायेगा।

मेरी आंखों में अलसाई रजनी सोई है,
सपनों के जंगल में मन की पीड़ा रोई है।

विकल कल्पना के विधु ने नव जीवन पाया है,
तब सारा जग उसे देखने को ललचाया है।
किन्तु पूर्णता को उसने अपना मन दे डाला,
वह सरूप वन उभर रहा बनकर धब्बा काला,
संस्कारों की स्मृतियों ने यह मिट्टी ढ़ोई है,
मेरी आंखों में अलसाई रजनी सोई है।

मेरे तृषित अधर जलधर को जीवन देते हैं,
जोकि नील नभ के सागर में नौका खेते हैं।
किन्तु अभी विद्युत की आग नहीं बुझ पाई है,
संतापों की याद उभर ; ताजी हो आई है,
फिर भी मैंने तो श्रद्धा की फसलें बोई हैं,
मेरी आंखों में अलसाई रजनी सोई है।

अनुरागों में आग लगे तो बुझने कब पाये ?
गीत मौत के इस जीवन ने खुद ही हैं गाये,
विपदाओं के आमन्त्रण जब-जब आ जाते हैं,
वरदानों के सुप्त प्राण झंकृत हो जाते हैं,
हर आंसू ने कलुष भाव की चादर धोई है,
मेरी आंखों में अलसाई रजनी सोई है।

[आवर्त्त

: ६१ :

मन की आग आंख के आंसू बन कर बह जाती है,
किन्तु दाह बनकर अन्तर की पीड़ा रह जाती है।

क्षण के दीप समय के तट पर
दीप्ति लिए आते हैं,
पर अतीत की गहराई में
डूब-डूब जाते हैं,
अनासक्ति की फिसलनपर
चिंतन के चरण टिके जब,
अंतर्द्वन्द्वों की आहत
पीड़ा तब सकुचाती है।
मन की आग आंख के आंसू बन कर बह जाती है,
किन्तु दाह बनकर अन्तर की पीड़ा रह जाती है।

अनुभव की आंखें यथार्थ से
जब परिचित होती हैं,
जब जीवन की शुक्ति ;
स्वाति के लिए यहां रोती है,
चिर-अभाव की प्यास लिए
मन तड़प रहा है कब से,
भावों की धृति विवश
संचिता को ज्यों अकुलाती है।

मन की आग आंख के आंसू बनकर बह जाती है,
किन्तु दाह बनकर अन्तर की पीड़ा रह जाती है।

हर स्मृति का उच्छ्वास ; सुलग
निःश्वास बना करता है ;
हर पग का उत्थान ; पतन
का पंथ चुना करता है,
प्राणों के मरघट पर प्रण ने
यह संकेत दिया है—
आशा की हर प्यास ;
निराशा से मन बहलाती है।
मन की आग आंख के आंसू बनकर बह जाती है,
किन्तु दाह बनकर अन्तर की पीड़ा रह जाती है !

प्रश्न शेष हैं ; पर उत्तर का
दम ही टूट गया है,
संध्या भटक गई ; प्रभात का
तट अब छूट गया है,
दिन का हर पदचिह्न ; निशा के
घर की ओर बढ़ा है,
पर संदेह न हो कि कल्पना
'कल' को सह जाती है।
मन की आग आंख के आंसू बनकर बह जाती है,
किन्तु दाह बनकर अन्तर की पीड़ा रह जाती है।

आवेगों ने हर घुमाव पर
संकल्पों को टोका,
संशय ने हर मूल्य चुका कर
विश्वासों को टोका,

निर्णय के मधु में विकल्प ने
विष ही विष घोला है,
इसीलिए पद-भ्रांत ; प्रगति को
प्रतिपद बहकाती है।
मन की आग आंख के आंसू बनकर बह जाती है,
किन्तु दाह बनकर अन्तर की पीड़ा रह जाती है।

पृ० नं०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२५	६	निहार	निहारा
२६	१	वभव	वैभव
३०	८	जोवन	जीवन
३७	११	सत ही	सतही
३९	३	निहाराता	निहारा तो
४३	११	पालो	पा लो
४९	७	जा	जो
६१	३	लहराती	लहरती
६५	१५	ता	तो
६६	१	घराकी	घरा को
६९	६	जीवन की	जीवन को
७४	१६	वरहा	डूब रहा
८४	८	मॅरे	मेरे
८८	९	वरदान	वरदान
९२	२	कोइ	कोई
९३	६	वंश जनित	वंश-जनित
१०४	३	इस प्रकार	इस प्रकार
११४	५	प्याम की	प्यार की
११७	४	दीप्त	दीप्ति
११८	२०	सहजाती	सहलाती
११९	२४	टोका	रोका